श्रीमद्राजचन्द्रका जन्म वि. सं. १९२४ कार्तिक सुदी पूर्णिमाको सौराष्ट्र मोरबी राज्यान्तर्गत ववाणिया बंदरमें वणिक जातिके दशाश्रीमाली कुलमें हुआ था। इनके पिताका नाम रवजीभाई पंचाणभाई महेता और माताका नाम देवबाई था। इनके एक छोटा भाई और ४ बहनें थीं। घरमें इनके जन्मसे बड़ा आनन्द मनाया गया। श्रीमद्जीने अपने सम्बन्धमें जो बातें लिखी हैं वे बड़ी रोचक और समझने योग्य हैं। वे लिखते हैं—

"छुटपनकी छोटी समझमें, कौन जाने कहाँसे ये बड़ी बड़ी कल्पनाएँ आया करती थीं। सुखकी अभिलाषा भी कुछ कम न थी; और सुखमें भी महल, बाग, बगीचे, स्त्री आदिके मनोरथ किये थे; किन्तु मनमें सदा आया करता था कि यह सब क्या है? इन्हीं विचारोंका यह फल निकला कि न पुनर्जन्म है, और न पाप है, और न पुण्य है; सुखसे रहना और संसारका सेवन करना। बस, इसीमें कृतकृत्यता है। इससे दूसरी झंझटोंमें न पड़कर धर्मकी वासना भी निकाल डाली। किसी भी धर्मके लिये थोड़ा बहुत भी मान अथवा श्रद्धाभाव न रहा, किन्तु थोड़ा समय बीतनेके बाद इसमेंसे कुछ और ही हो गया। आत्मामें बड़ा भारी परिवर्तन हुआ, कुछ दूसरा ही अनुभव हुआ; और यह अनुभव ऐसा था, जो प्रायः शब्दोंमें व्यक्त नहीं किया जा सकता और न जड़वादियोंकी कल्पनामें भी आ सकता है। यह अनुभव क्रमसे बढ़ा और बढ़कर एक 'तूही तूही' का जाप करता है।" एक दूसरे पत्रमें अपने जीवनको सिंहावलोकन लिखते हैं कि — "बाईस वर्षकी अल्पवयमें मैंने आत्मा सम्बन्धी, मन सम्बन्धी, वचन सम्बन्धी, तन सम्बन्धी, और धन सम्बन्धी अनेक रंग देखे हैं। नाना प्रकारकी सृष्टि रचना, नाना प्रकारकी सांसारिक लहरें और अनन्त दुःखके मूल कारणोंका अनेक प्रकारसे मुझे अनुभव हुआ है। समर्थ तत्त्वज्ञानियों और समर्थ नास्तिकोंने जैसे जैसे विचार किये हैं उसी तरहके अनेक विचार मैंने इसी अल्पवयमें किये हैं। महान् चक्रवर्ती द्वारा किये गये तृष्णापूर्ण विचार और एक निःस्पृही आत्मा द्वारा किये गये निःस्पृहापूर्ण विचार भी मैंने किये हैं। अमरत्वकी सिद्धि और क्षणिकताकी सिद्धि पर मैंने खूब मनन किया है। अल्पवयमें ही मैंने महान् विचार कर डाले हैं, और महान् विचित्रताकी प्राप्ति हुई है। बहुत [illegible] है।

आत्माकी ओर ध्यान नहीं देते उसी आत्माकी ओर श्रीमद्जीका बाल्यकालसे ध्यान गया था। आत्माके अमरत्व तथा अविनश्वरत्वके विचार भी कुछ कम न किए थे। कुल श्रद्धासे जैन धर्मको अंगीकार नहीं किया था, लेकिन अपने अनुभवके ऊपर उसे सत्य सिद्ध करके अपनाया था। जैन धर्मके सत्य सिद्धान्तोंको श्रीमद्जीने अपने जीवनमें उतारा था और मुमुक्षुओंको भी तदनुरूप बननेका बोध देते थे। वर्तमान युगमें ऐसे महात्माका आविर्भाव समाजके लिये सौभाग्यकी बात है। वे मतमतान्तरमें मध्यस्थ थे।

आपको जातिस्मरण ज्ञान था अर्थात् पूर्वभव जानते थे! इस संबन्धमें मुमुक्षुभाई पदमशीभाईने एक बार उनसे पूछा था और उसका स्पष्टीकरण स्वयं उन्होंने अपने मुखसे किया था। पाठकोंकी जानकारीके लिये यहाँ बता देना योग्य समझता हूँ।

पदमशीभाईने पूछा—"आपको जाति स्मरण ज्ञान कब और कैसे हुआ?"

श्रीमद्जीने उत्तर दिया—"जब मेरी उम्र सात वर्षकी थी, उस समय ववाणियामें अमीचन्द नामके एक गृहस्थ रहते थे। वे खूब लम्बे-चौड़े, सुन्दर और गुणवान थे। उनका मेरे ऊपर खूब प्रेम था। एक दिन सर्पके काट खानेसे उनका तुरन्त देहान्त हो गया। आसपासके मनुष्योंके मुखसे इस बातको सुनकर मैं अपने दादाके पास दौड़ा आया। मरण क्या चीज है? इस बातको मैं नहीं जानता था, इसलिए मैंने दादासे कहा दादा, अमीचन्द मर गए क्या? मेरे दादाने उस समय विचारा कि यह बालक है, मरनेकी बात करनेसे डर जायगा, इसलिए, उन्होंने, जा भोजन करले, ऐसा कहकर मेरी बातको टालनेका प्रयत्न किया। 'मरना' शब्द उस छोटी उम्रमें मैंने प्रथम बार ही सुना था। मरण क्या चीज है, यह जाननेकी मुझे तीव्र आकांक्षा थी। बारम्बार मैं पूर्वोक्त प्रश्न करता रहा। अन्तमें वे बोले—तेरा कहना सत्य है अर्थात् अमीचन्द मर गए हैं। मैंने आश्चर्यपूर्वक पूछा—मरना क्या चीज है? दादाने कहा—शरीरमेंसे जीव निकल गया है और अब यह हलन-चलन आदि कुछ भी क्रिया नहीं कर सकेगा, खाना-पीना भी नहीं कर सकेगा। इसलिए अब इसको तालाबके समीपके श्मशानमें जला आवेंगे।

मैं थोड़ी देर इधर-उधर छिपा रहा। बादमें तालाबके पास जा पहुँचा। वहाँ पर दो शाखावाला एक बबूलका पेड़ था, उसपर चढ़कर मैं सामनेका सब दृश्य देखने लगा। चिता जोरोंसे जल रही थी, बहुतसे आदमी उसको घेरकर बैठे हुए थे। यह सब देखकर मुझे विचार आया [illegible] मनुष्यको जलानेमें कितनी [illegible] यह सब क्यों हुआ! इत्यादि विचारोंसे आवरण-पटल दूर हो गया।"

[illegible]

[illegible]

जीवनमें पद पद पर उनकी धार्मिकता प्रत्यक्ष दिखाई देती थी। वे २१ वर्षकी उमरमें व्यापारार्थ ववाणियासे बम्बई आए। वहाँ सेठ रेवाशंकर जगजीवनदासकी दुकानमें भागीदार रहकर जवाहरातका धन्धा करने लगे। व्यापारमें अत्यन्त कुशल थे। ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका इनमें यथार्थ समन्वय देखा जाता था। व्यापार करते हुवे भी श्रीमद्जीका लक्ष्य आत्माकी ओर अधिक था। इनके ही कारण उस समय मोतियोंके बाजारमें श्रीयुत रेवाशंकर जगजीवनदासकी पेढ़ी नामी पेढ़ियोंमें एक गिनी जाती थी। स्वयं श्रीमद्जीके भागीदार श्रीयुत माणिकलाल घेलाभाईको इनकी व्यवहार कुशलताके लिये अपूर्व बहुमान था। उन्होंने अपने एक वक्तव्यमें कहा था कि "श्रीमद् राजचन्द्रके साथ लगभग १५ वर्ष तक परिचय रहा, और उसमें सात-आठ वर्ष तो मेरा उनके साथ अत्यन्त परिचय रहा था। लोगोंमें अति परिचयसे परस्परका महत्व कम हो जाता है, परन्तु मैं कहता हूँ कि उनकी दशा ऐसी आत्ममय थी कि उनके प्रति मेरा सद्भाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया। व्यापारमें अनेक प्रकारकी कठिनाइयें आती थीं, उनके सामने आप एक अडोल पर्वतके समान टिके रहते थे। मैंने उन्हें जड़ वस्तुओंकी चिन्तासे चिन्तातुर नहीं देखा। वे हमेशा शान्त और गम्भीर रहते थे। किसी विषयमें मतभेद होने पर भी हृदयमें वैमनस्य नहीं था। सरल पुरुष-सा व्यवहार करते थे।"

श्रीमद्जी व्यापारमें जैसे निष्णात थे उससे अत्यन्त अधिक आत्मतत्वमें निष्णात थे। उनकी अन्तरात्मामें लौकिक पदार्थोंकी महत्ता नहीं थी। वे सब पार्थिव संपत्ति नाशवान है, क्योंकि अनुयायी तथा आत्माको आत्यन्तिक शान्ति प्रदान करनेवाला नहीं है। व्यापार करते हुए भी उनकी अन्तरात्मामें वैराग्य भावनाका अखण्ड प्रवाह निरन्तर बहता रहता था। मनुष्य भवके एक एक समयको वे अमूल्य समझते थे। व्यापारसे अवकाश मिलते ही वे कोई अपूर्व आत्म विचारणामें लीन हो जाते थे। निवृत्तिकी पूर्ण भावना होने पर भी पूर्वोदय कुछ ऐसा विचित्र था जिससे उनको अन्त तक उपाधिमें रहना पड़ा।

श्रीमद्जी जवाहरातके साथ साथ मोतियोंका भी व्यापार करते थे। व्यापारी समाजमें वे एकदम विश्वासपात्र माने जाते थे। उस समय एक अरब सज्जन अपने भाईके साथ बम्बईमें मोतियोंका व्यापार करता था। [illegible]

[illegible]

जीवनमें पद पद पर सच्ची धार्मिकता प्रत्यक्ष दिखाई देती थी। वे २१ वर्षकी उमरमें व्यापारार्थ ववाणियासे बम्बई आए। वहाँ सेठ रेवाशंकर जगजीवनदासकी दुकानमें भागीदार रहकर जवाहरातका धन्धा करते रहे। व्यापारमें अत्यन्त कुशल थे। ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका इनमें यथार्थ समन्वय देखा जाता था। व्यापार करते हुये भी श्रीमद्जीका लक्ष्य आत्माकी ओर अधिक था। इनके ही कारण उस समय मोतियोंके बाजारमें श्रीयुत रेवाशंकर जगजीवनदासकी पेढ़ी नामी पेढ़ियोंमें एक गिनी जाती थी। स्वयं श्रीमद्जीके भागीदार श्रीयुत माणिकलाल घेलाभाईको इनकी व्यवहार कुशलताके लिये अपूर्व बहुमान था। उन्होंने अपने एक वक्तव्यमें कहा था कि " श्रीमद् राजचन्द्रके साथ लगभग १५ वर्ष तक परिचय रहा, और उसमें सात-आठ वर्ष तो मेरा उनके साथ अत्यन्त परिचय रहा था। लोगोंमें अति परिचयसे परस्परका महत्व कम हो जाता है, परन्तु मैं कहता हूँ कि उनकी दशा ऐसी आत्ममय थी कि उनके प्रति मेरा सद्भाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया। व्यापारमें अनेक प्रकारकी कठिनाइयें आती थी, उनके सामने श्रीमद्जी एक अडोल पर्वतके समान टिके रहते थे। मैंने उन्हें जड़ वस्तुओंकी चिन्तासे चिन्तातुर नहीं देखा। वे हमेशां शान्त और गम्भीर रहते थे। किसी विषयमें मतभेद होने पर भी इनमें वैमनस्य नहीं था। श्रेष्ठ पुरुषसा व्यवहार करते थे। "

श्रीमद्जी व्यापारमें जैसे निष्णात थे उससे अत्यन्त अधिक आत्मतत्त्वमें निष्णात थे। उनकी अन्तरंगतामें भौतिक पदार्थोंकी महत्ता नहीं थी। वे धन वर्तमान जीवनका साधन है, परलोक अनुगामी तथा आत्माको शाश्वत शान्ति प्रदान करनेवाला नहीं है। व्यापार करते हुए भी उनकी अन्तरंगतामें वैराग्यभावनाका अखण्ड प्रवाह निरन्तर बहता रहता था। अनुभव बताते हैं, एक एक क्षणको वे अमूल्य समझते थे। व्यापारसे अवकाश मिलते ही वे कोई अपूर्व [?] विचारणामें लीन हो जाते थे। निवृत्तिकी रुचि अत्यन्त होने पर भी पूर्वोदय कुछ ऐसा विचित्र था जिससे उनको अन्त तक उपाधिमें रहना पड़ा।

श्रीमद्जी जवाहरातके साथ साथ मोतियोंका भी व्यापार करते थे। [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

गुजरातमें अगास स्टेशनके पास 'श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम'की स्थापना की थी, जो आज भी उन्हीं की आज्ञानुसार चलता है। इसके सिवाय खंभात, वड़वा, नरोड़ा, धामण, आहोर, ववाणिया, काविठा, भादरण, ईडर, उत्तरसंडा, नार आदि स्थलोंमें भी इनके नामसे आश्रम तथा मन्दिर स्थापित हुए हैं। श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगासके अनुसार ही उनमें प्रवृत्ति है—अर्थात् श्रीमद्जीके तत्त्वज्ञानकी प्रधानता है।

श्रीमद् एक उच्चकोटिके असाधारण लेखक और वक्ता थे। उन्होंने १६ वर्ष और ५ मासकी उम्रमें ३ दिनमें १०८ पाठोंकी 'मोक्षमाला' बनाई थी। आज तो इतनी आयुमें शुद्ध लिखना भी नहीं आता जब कि श्रीमद्जीने एक अपूर्व पुस्तक लिख डाली। पूर्व भवका अभ्यास ही इसमें कारण था। इससे पहले पुष्पमाला, भावना बोध आदि पुस्तकें लिखी थीं। श्रीमद्जी मोक्षमालाके सम्बन्धमें लिखते हैं कि—"इस (मोक्षमाला) में मैंने जैन धर्मके समझानेका प्रयत्न किया है; जिनोक्त मार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक नहीं लिखा है। वीतराग मार्गमें आबाल-वृद्धकी रुचि हो, उसके स्वरूपको समझें तथा उसका बीज हृदयमें स्थिर हो, इस कारण इसकी बालावबोध रूपरचना की है।"

इनकी दूसरी कृति आत्मसिद्धि है, जिसको श्रीमद्जीने १॥ घंटेमें नडियादमें बनाया था। १४२ दोहोंमें सम्यग्दर्शनके कारणभूत छै पदोंका बहुत ही सुन्दर पक्षपात रहित वर्णन किया है। यह कृति नित्य स्वाध्यायकी वस्तु है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यके पंचास्तिकायकी मूल गाथाओंका भी इन्होंने अक्षरशः गुजरातीमें अनुवाद किया है, जो 'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थमें छप चुका है।

श्रीमद्जीने आनन्दघन चौबीसीका अर्थ लिखना प्रारम्भ किया था, और उसमें, प्रथमादि दो स्तवनोंका अर्थ भी किया था; पर वह अपूर्ण रह गया है। संस्कृत तथा प्राकृत भाषापर आपका पूर्ण अधिकार था। सूत्रोंका यथार्थ अर्थ समझानेमें आप बड़े निपुण थे।

आत्मानुभव प्रिय होनेसे श्रीमद्जीने लोगोंसे कोई अपेक्षा न रखी। इससे लौकिक मार्ग अपनाया [illegible]

आचार्य अमृतचन्द्र

आध्यात्मिक विद्वानोंमें भगवत्कुन्दकुन्दके बाद यदि किसीका नाम लिया जा सकता है तो वे आचार्य अमृतचन्द्र हैं। दुःखकी बात है कि इतने महान् आचार्यके विषयमें इसके सिवाय हम कुछ भी नहीं जानते कि इनके बनाये हुए अमुक अमुक ग्रन्थ हैं। इनकी गुरुशिष्यपरम्परा और समयादिसे हम सर्वथा अपरिचित हैं। इसका हेतु यही है कि ग्रन्थोंमें वे कहते हैं कि नाना वर्णोंसे पद बन गये, पदोंसे वाक्य बन गये और वाक्योंसे यह पवित्र शास्त्र बन गया। मैंने कुछ भी नहीं किया। अन्य ग्रन्थोंमें भी उन्होंने अपना सिर्फ नाम प्रकट किया है। इससे अधिक परिचय देनेकी उन्होंने आवश्यकता ही नहीं समझी।

इनके बनाये हुए पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हैं और वे पाँचों ही संस्कृतमें हैं—१ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २ तत्त्वार्थसार, ३ समयसार-टीका, ४ प्रवचनसार-टीका और ५ पंचास्तिकाय-टीका। पहला श्रावकाचार है जो उत्तम सरस आर्या छन्दोंमें लिखा और अपने ढंगका अद्वितीय है। दूसरा उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका संक्षिप्त रूप, सुगम्य और कुछ विस्तृत पद्यानुवाद है। शेष तीन भगवत्कुन्दकुन्दके प्रसिद्ध प्राकृत ग्रन्थोंकी संस्कृत टीकायें हैं, जिनकी भाषाशैली बहुत ही प्रौढ़ और गम्भीर है।

पं० आशाधरने अपने अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिकाटीकामें अमृतचन्द्रको दो स्थानोंमें 'ठक्कुर' नामसे उल्लेखित किया है—

१ एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमपाठीत्—लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे। [illegible]

२ एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रविरचितसमयसारटीकायां द्रष्टव्यम्। [illegible]

ठक्कुर और ठाकुर एकार्थवाची हैं। प्रायः क्षत्रियोंके लिए इस पदका व्यवहार होता है, और यह उनके गृहस्थावस्थाके कुलका सूचक ज्ञात पड़ता है।

समयसारकी आत्मख्याति टीका वि० सं० १००० में समाप्त हुई थी। [illegible]

आत्मा वा परो वा स्याद्विषमः श्रुतानि वा विभिन्नदेशीय ।
स निहन्ति ममनिमित्तं निर्दं वदन्तीदंकोंशनाम् ॥ ६८ ॥

तस्माद्गुणोऽत्र ग्राद्यं गणाढ्योऽमा मद वर्तिनीनि ।
भेदाभेदोमाभिर्हेत्वमि विनयमहम् संदेहः ॥ ७७ ॥

श्रीमद्भूमं वरितामं विविन्माई प्रवद पुनरपि ।
भवत्येव वरितमयोऽत्र पुरुषाः कर्मणांन ॥ ९२ ॥

इन अवतरित पद्योंको देखकर पहले हमने यह अनुमान किया था कि अमृतचन्द्रका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय जैसा ही कोई प्राकृत ग्रन्थ भी होगा और शायद ही अथवा उन्होंने संस्कृत अनुवाद कर लिया होगा। परन्तु अब ऐसा मालूम होता है कि उक्त प्राकृत पद किसी प्राचीन ग्रन्थके हैं और उनकी ही छाया पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें ले ली गई है। क्योंकि भावसंग्रहमें उद्धृत हुए पद अमृतचन्द्रका माननेसे वे भावसंग्रहके भी पूर्ववर्ती सिद्ध होंगे; और उनको इतना प्राचीन माननेके लिए और कोई प्रमाण नहीं है। भावसंग्रहके 'मोक्षतत्त्व' अध्यायका 'वर्ते वीर मुक्तात्मनं' आदि गाथायें और २० से लेकर ५४ तककी गाथायें भावसंग्रहमें लिखे गये जान पड़ते हैं। इसके सिवाय वे सब गाथायें सम्यक्त्वकौमुदीमें भी हैं जो तार्किक देवसेनके बाद लिखी है। अतएव इनसे हम ये इनको अमृतचन्द्रके भी नहीं मान सकते।

देवसेनसूरिके भावसंग्रहकी टीकाओंमें अमृतचन्द्रके नामसे कुछ पद उद्धृत किये हैं। उनमें जो श्लोक लिखे हैं वे सब प्राकृतके हैं। अतएव इनसे भी हमने अनुमान किया था कि अमृतचन्द्रका कोई प्राकृत ग्रन्थ होगा।

१—"अमृतचन्द्र सूरिणाप्युक्तं —
[illegible]
[illegible] ॥"

—[illegible] टीका

२—"अमृतचन्द्रसूरिणा [illegible]—
[illegible] ।
[illegible] ॥"

[illegible]

[illegible]

शिष्य अमियचंदु (अमृतचन्द्र) विहार करते हुए बांभणवाड़ेमें आये, कविने उनकी अभ्यर्थना की और उन्हींके कहनेसे प्रद्युम्नचरितकी रचना की। अमृतचन्द्रको कविने तपतेजदिवाकर, व्रत-नय-शीलरत्नाकर, तर्कलहरीझंकोलितपरमत, वर-व्याकरण-प्रवरप्रसरितपद, जंगम सरस्वती आदि विशेषण दिये हैं। इन विशेषणोंमें यद्यपि ऐसी कोई सूचना नहीं है जिससे हम निश्चयपूर्वक इन अमृतचन्द्रको प्रसिद्ध टीकाकार अमृतचन्द्र कह सकें, अमृतचन्द्रने अपने गुरुका नाम भी कहीं नहीं दिया है, जिससे मलधारि माधव-चन्द्रके शिष्य अमृतचन्द्रसे उनकी एकता सिद्ध की जा सके; फिर भी संभावना है कि दोनों एक ही हों और इसलिए यहाँ इस प्रसंगका उल्लेख कर देना उचित प्रतीत हुआ। ऊपर अमृतचन्द्रके समयका जो अनुमान किया गया है, उससे भी इसमें इतना अधिक अन्तर नहीं है कि उसका समाधान न हो सके। संभव है बांभणवाड़ेमें आनेके समय वे वृद्ध हों और अपने ग्रन्थोंकी रचना वे इससे बहुत पहले कर चुके हों।

जनवरी १९३७ —नाथूराम प्रेमी

१८१६ में उनके हरिश्चन्द्र और १८१८ में गुमानीराम नामक पुत्रोंका जन्म हुआ। १८१८ में गोम्मटसार आदिकी सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीकाका संशोधन कार्य पूर्ण हुआ। मोक्षमार्गप्रकाशका प्रारंभ १८१९ के लगभग हुआ होगा। उनकी गोम्मटसार, क्षपणासार-लब्धिसार, त्रिलोकसार और आत्मानुशासन इन चार ग्रन्थोंकी भाषाटीकायें प्रसिद्ध हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी टीका अधूरी है। साम्प्रदायिकताके मदमें उन्मत्त कुछ षड्यंत्रकारियोंने इस महान् विद्वानकी हत्या कर डाली।

पं० भूधर मिश्र आगराके समीप शाहगंजके निवासी ब्राह्मण थे। आपके गुरुका नाम पं० रंगनाथ था। सं० १८७१ की भादों सुदी १० को आपने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-टीका पूर्ण की थी। आप बड़े विद्वान् थे, इस टीकामें यशस्तिलकचम्पू, रत्नमाला, धर्मोपदेशामृत श्रावकाचार, प्रबोधसार, सोमेन्द्र-देवकृत श्रावकाचार, गाथासार आदि अनेक ग्रन्थोंके प्रमाण यथावसर दिये हैं। आपका लिखा हुआ 'चर्चा-समाधान' नामक ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है।

मूलग्रन्थकर्ता आचार्य अमृतचन्द्रका परिचय मेरे लिखे हुए 'जैन साहित्य और इतिहास' से उद्धृत कर दिया जाता है।

हीराबाग, बम्बई, ता. १-३-५३ —नाथूराम प्रेमी

विषय-सूची

श्रीमद् राजचंद्राश्रम अगास द्वारा संचालित

श्रीमद् राजचन्द्र जैनशास्त्रमालामें मिलनेवाले ग्रंथ-रत्न।

---

१. **गोम्मटसार–जीवकांड**— श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकृत मूलगाथायें, ब्रह्मचारी पं० खूबचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत नई हिन्दीटीका। अब की बार पं० जीने धवल, जयधवल, महाधवल और बड़ी संस्कृतटीकाके आधारसे विस्तृत टीका लिखी है। तीसरी आवृत्ति। मू० ६ रु.

२. **स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा**—स्वामिकार्त्तिकेयकृत मूलगाथायें, श्रीशुभचन्द्रकृत बड़ी संस्कृतटीका, स्याद्वाद महाविद्यालय बनारसके प्रधानाध्यापक पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीकृत हिन्दीटीका, सम्पादक डा. ए. एन. उपाध्ये, प्रोफेसर राजाराम कॉलेज, कोल्हापुर। मू० १४ रु.

३. **परमात्मप्रकाश और योगसार**—मूल अपभ्रंश दोहे, संस्कृत टीका, हिन्दी टीका, अंग्रेजी प्रस्तावना और उसके हिन्दीसार सहित। मू० ९ रु.

४. **ज्ञानार्णव**—शुभचन्द्राचार्यविरचित मूल संस्कृत, पं० पन्नालाल बाकलीवालकृत हिन्दी अनुवाद सहित। मजबूत सुंदर और मनमोहक जिल्द। नई आवृत्ति। मू० ८

५. **प्रवचनसार**—श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित मूल गाथा, श्रीअमृतचंद्राचार्य तथा श्रीमद् जयसेनाचार्यविरचित संस्कृत टीका तथा पांडे हेमराजकृत हिन्दी अनुवाद सहित डा. ए. एन. उपाध्ये कृत विस्तृत अध्ययनपूर्ण अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तावना इत्यादि सहित। मू० १५

६. **बृहद्द्रव्यसंग्रह**—श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचित श्री ब्रह्मदेवनिर्मित संस्कृतवृत्ति सहित श्री जवाहरलाल शास्त्रीकृत हिन्दी भाषानुवाद सहित। मू० ५ रु. ५० पैसे

७. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**—श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत मूलश्लोक और स्व० पं० टोडरमलजी तथा पं० दौलतरामजीकी टीकाके आधारसे लिखी गई नई हिन्दीटीका। इसमें श्रावकधर्म, अहिंसादि विस्तार दिखाया है। मू० ३ रु. ५० पैसे

८. **गोम्मटसार–कर्मकांड**—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूलगाथायें, स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया और हिन्दीटीका, जिल्दबंधा ग्रन्थ है। मू० ५ रु.

९. **लब्धिसार**—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूलगाथा और संस्कृतछाया, और सिद्धान्तशास्त्री पं० मनोहरलालजीकृत हिन्दी टीका, इस ग्रंथमें [illegible] लिखा है। मू० ३ रु.

१०. [illegible]—[illegible] मू० [illegible]

प्रकाशक–
रावजीभाई छगनभाई देसाई
आ० व्यवस्थापक परमश्रुत-प्रभावक मंडल,
श्रीमद् राजचन्द्र जैनशास्त्रमाळा,
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास.
पोस्ट बोरिआ, व्हाया आणंद. (गूजरात)

प्रथमावृत्ति	१०००	दिसम्बर सन्	१९०४	वीर सं०	२४३१
द्वितीयावृत्ति	१०००	,,	१९११	,,	२४४५
तृतीयावृत्ति	२०००	ई० स०	१९२६	वि० सं०	१९५३
चतुर्थावृत्ति	२०००	मार्च	१९५३	वीर सं०	२४७९
पंचमावृत्ति	१५००		१९६६	वीर सं०	२४९२
	७५००				

मुद्रक–
जयंति दलाल
वसंत प्रिन्टिंग प्रेस
घीकांटा रोड, अमदावाद



नमः सर्वज्ञाय ।

श्रीमद्राजचन्द्रजैनशास्त्रमाला

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

सरल भाषानुवाद सहित ।

मंगलाचरण[1]

दोहा—परम पुरुष निज अर्थको, साध भये गुणवृन्द ।
आनन्दामृतचन्द्रको, वन्दत हूँ सुखकन्द ॥ १ ॥
वानी बिन बैन न बनै, बैन बिना बिन नैन ।
नैन बिना वानि न बनै, नमौं वानि बिन बैन ॥ २ ॥
[illegible] ॥
[illegible] ॥ ३ ॥
मैं नमों नगन जैन जिन, ज्ञान ध्यान धन लीन ।
मैनमान बिन दान घन, एनहीन तन छीन ॥ ४ ॥

कवित्त — [illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ५ ॥

दोहा—[illegible] ।
[illegible] ॥ ६ ॥

[1] [illegible]

इस युगके महान् तत्त्ववेत्ता

श्रीमद् राजचन्द्र

इस युगके महान् पुरुषोंमें श्रीमद् राजचन्द्रजीका नाम बड़े गौरवके साथ लिया जाता है। वे विश्वकी महान् विभूति थे। अद्भुत प्रभावशाली अपनी नामवरीसे दूर रहनेवाले गुप्त महात्मा थे। भारत भूमि ऐसे ही नर--रत्नोंसे वसुन्धरा मानी जाती है।

जिस समय मनुष्य समाज आत्म धर्मको भूल कर अन्य वस्तुओंमें धर्मकी कल्पना या मान्यता करने लगता है, उस समय उसे किसी सत्य मार्गदर्शककी आवश्यकता पड़ती हैं। प्रकृति ऐसे पुरुषोंको उत्पन्न कर अपनेको धन्य मानती है, श्रीमद्जी उनमेंसे एक थे। श्रीमद् राजचन्द्रजीका नाम तो प्रायः बहुतोंने सुन रक्खा है, और उसका कारण भी यह है राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजीने अपने साहित्यमें इनका जहाँ तहाँ सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है। वे स्वयं इनको धर्मके सम्बन्धमें अपना मार्गदर्शक मानते थे। महात्माजी लिखते है कि—"मेरे ऊपर तीन पुरुषोंने गहरी छाप डाली है—टाल्सटॉय, रस्किन और राजचन्द्रभाई। टाल्सटॉयने अपनी पुस्तकों द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्रव्यवहारसे; रस्किनने अपनी पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' से, जिसका गुजराती नाम मैंने सर्वोदय रक्खा हैं, और राजचन्द्रभाईने अपने गाढ़ परिचयसे। जब मुझे हिन्दू धर्ममें शङ्का उत्पन्न हुई उस समय उसके निवारण करनेमें राजचन्द्रभाईने मुझे बड़ी सहायता पहुँचाई थी। ई. सन् १८९३ में दक्षिण अफ्रिकामें मैं कुछ क्रिश्चियन सज्जनोंके विशेष परिचयमें आया था। अन्य धर्मियोंको क्रिश्चियन बनाना ही उनका प्रधान व्यवसाय था। उस समय मुझे हिन्दू धर्ममें कुछ अश्रद्धा हो गई थी, फिर भी मैं मध्यस्थ रहा था। हिन्दुस्तानमें जिनके उपर मुझे श्रद्धा थी उनसे पत्रव्यवहार किया। उनमें राजचन्द्रभाई मुख्य थे। उनके साथ मेरा अच्छा सम्बन्ध हो चुका था। उनके प्रति मुझे मान था, इसलिए उनसे जो कुछ मुझे मिल सके उसको प्राप्त करने का विचार था। मेरी उनसे भेंट हुई। उनसे मिलकर मुझे अत्यन्त शान्ति मिली। अपने धर्ममें दृढ़ श्रद्धा हुई। मेरी इसस्थितिके जवाबदार राजचन्द्रभाई हैं। इससे मेरा उनके प्रति कितना अधिक मान होना चाहिये, इसका पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं।"

महात्माजी आगे और भी लिखते हैं कि—राजचन्द्रभाईके साथ मेरी भेंट जौलाई सन १८९१ में उस दिन हुई थी जब मैं विलायतसे बम्बई आया था। उस समय मैं रंगूनके प्रख्यात जौहरी प्राणजीवनदास मेहताके घर उतरा था। राजचन्द्रभाई उनके बड़े भाईके जमाई होते थे। प्राणजीवनदासने राजचन्द्रभाईका परिचय कराया। वे राजचन्द्रभाईको कविराज कहकर पुकारा करते थे। विशेष परिचय देते हुए उन्होंने कहा — ये एक अच्छे कवि हैं और हमारे साथ व्यापार में लगे हुए हैं। इनमें बड़ा ज्ञान है, शतावधानी हैं।

इस प्रकार ग्रन्थकर्त्ता आद्यमङ्गलस्वरूप अपने इष्टदेवका स्मरण करके, पश्चात् परमागमको नमस्कार करते हुए कहते हैं—

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥ २ ॥

अन्वयार्थौ—[**निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्**] जन्मान्ध पुरुषोंके हस्तिविधानका निषेध करनेवाले [**सकलनयविलसितानां**] समस्त नयोंसे प्रकाशित वस्तु स्वभावोंके [**विरोधमथनं**] विरोधोंको दूर करनेवाले [**परमागमस्य**] उत्कृष्ट जैनसिद्धान्तके [**बीजं**] जीवभूत [**अनेकान्तम्**] एकपक्ष रहित स्याद्वादको (अहम्) मैं अमृतचन्द्रसूरि [**नमामि**] नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—जैसे जन्मके अंधे पुरुष हाथीके पृथक् पृथक् अवयवोंका स्पर्श करके उसके आकारका निश्चय करनेमें वादविवाद करते हुए भी कुछ निश्चय नहीं कर सकते, और नेत्रवान पुरुष उनके सब कल्पनारूप आकारविषयक झगड़ोंको क्षणमात्रमें दूर कर देता है, उसीप्रकार अज्ञानी लोग वस्तुके अनेक अङ्ग अपनी बुद्धिसे भिन्न भिन्न नयोंसे निश्चय करके भी सम्यग्ज्ञान बिना यथार्थ वस्तुको न जानकर परस्पर विवाद करते रहते हैं, परन्तु सम्यग्ज्ञानी स्याद्वादविद्याके प्रभावसे यथार्थ वस्तुका निर्णय कर भिन्न भिन्न कल्पनाओंको दूर कर देता है. यथा—सांख्यमतवादी वस्तुको केवल नित्य और बौद्ध क्षणिक मानता है, परन्तु स्याद्वादी कहता है कि जो सर्वथा नित्य है, तो अनेक अवस्थाओंका पलटना किस प्रकार होता है ? और जो सर्वथा क्षणिक है तो "यह वही वस्तु है, जो पहिले देखी थी" इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान क्यों होता है ? अतएव पदार्थ द्रव्यकी अपेक्षा कथंचित् नित्य और पर्यायकी अपेक्षा क्षणिक है, तथा स्याद्वादसे सर्वाङ्ग वस्तुका निश्चय होनेसे यथार्थ वस्तुका निर्णय होता है ।

नयविवक्षासे वस्तुमें अस्ति नास्ति, एक अनेक, भेद अभेद, नित्य अनित्य, आदि अनेक धर्म पाये जाते हैं, और उन धर्मोंमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है, जैसे—'अस्ति' और 'नास्ति' में बिल्कुल प्रतिपक्षीपन है, परन्तु इन्हें स्याद्वादी अपेक्षासे भिन्न करके सहज ही विरोध दूर कर देते हैं । क्योंकि वस्तु ही स्वरूप कथंचित् अस्तिरूप है, परद्रव्य परक्षेत्र परकाल परभावकी अपेक्षा कथंचित् नास्तिरूप है, [illegible] स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल स्वभावकी अपेक्षा [illegible] कथंचित् अस्तिरूप, [illegible] इस प्रकार स्याद्वादसे सब विरोध दूर हो जाते हैं, [illegible] ।

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन ।
अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥ ३ ॥

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुखः, प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थौ—आचार्य इन दोनों नयोंमें, [इह] इस ग्रन्थमें [निश्चयं] निश्चयनयको [भूतार्थं] भूतार्थ और [व्यवहारं] व्यवहारनयको [अभूतार्थं] अभूतार्थ [वर्णयन्ति] वर्णन करते हैं । [प्रायः] बहुत करके [भूतार्थबोधविमुखः] भूतार्थ अर्थात् निश्चयनयके ज्ञानसे विरुद्ध जो अभिप्राय है, वे [सर्वोऽपि] समस्त ही [संसारः] संसारस्वरूप हैं ।

भावार्थ—' भूतार्थ ' शब्दका अर्थ सत्यार्थ है, और [illegible] जैसा पदार्थोंको न बतावे [illegible] । यद्यपि जीव और पुद्गलका अनादिकालसे एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है और दोनों मिले हुए दीखते हैं । तथापि निश्चयनय शुद्ध आत्मद्रव्यको शरीरादिक परद्रव्योंसे भिन्न ही प्रकाशन करता है, और यही भिन्नता मुक्तदशामें प्रकट होती है । अतएव निश्चयनय ही भूतार्थ है । यद्यपि जीव और पुद्गलका सत्त्व भिन्न है, स्वभाव भिन्न है, प्रदेश भिन्न हैं, तथापि व्यवहारनय एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धका छल पाकर आत्मद्रव्यको शरीरादिक परद्रव्योंसे एकत्वरूप कथन करता है । मुक्तदशामें प्रकट भिन्नता होनेपर व्यवहारनय [illegible] हो जाता है, इसलिये व्यवहार अभूतार्थ है ।

' प्रायः भूतार्थबोधविमुखः सर्वोऽपि संसारः ' इस वाक्यका विशेषार्थ—[illegible] निश्चयनयके ज्ञानसे विमुख होकर शरीरादिक परद्रव्योंमें एकत्वरूप श्रद्धान करता है । इसको ही संसार कहते हैं, संसार कोई पृथक् वस्तु नहीं है । इसलिये जो जीव संसारसे मुक्त होना चाहें, उनको शुद्ध (निश्चय) नयके सन्मुख रहना योग्य है ।

[illegible]

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम् ।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥ ६ ॥

प्रकार जुदाईका अंकुर देखते ही मेरा अन्तःकरण रो पड़ता था। आठवें वर्षमें मैंने कविता लिखी थी, जो पीछेसे जाँच करने पर छन्द शास्त्रके नियमानुकूल थी।

उस समय मैंने कहे काव्य ग्रन्थ लिखे थे, अनेक प्रकारके और भी बहुतसे ग्रन्थ देख डाले थे। मैं मनुष्य जातिका अधिक विश्वासु था।

मेरे पितामह कृष्णकी भक्ति किया करते थे। उस वयमें मैंने उनके कृष्ण-कीर्तन तथा भिन्न भिन्न अवतार सम्बन्धी चमत्कार सुने थे। जिससे मुझे उन अवतारोंमें भक्तिके साथ प्रीति भी उत्पन्न होगई थी, और रामदासजी नामके साधुसे मैंने बाल-लीलामें कंठी भी बंधवाई थी। मैं नित्यही कृष्णके दर्शन करने जाता था, अनेक कथाएं सुनता था, जिससे अवतारोंके चमत्कारों पर बार बार मुग्ध होजाया करता था, और उन्हें परमात्मा मानता था। × × × गुजराती भाषाकी पाठशालाकी पुस्तकोंमें कितनी ही जगह, जगत्कर्ताके सम्बन्धमें उपदेश हैं, वह मुझे दृढ़ हो गया था। इस कारण जैन लोगोंसे घृणा रहा करती थी। कोई पदार्थ विना बनाए नहीं बन सकता, इसलिये जैन मूर्ख हैं, उन्हें कुछ भी खबर नहीं। उस समय प्रतिमा-पूजनके अश्रद्धालु लोगोंकी क्रिया मुझे वैसी ही दिखाई देती थी, इसलिये उन क्रियाओंको मलिनताके कारण मैं उनसे बहुत डरता था, अर्थात् वे क्रियाऐं मुझे पसन्द नहीं थीं।

मेरी जन्मभूमिमें जितने वणिक लोग रहते थे, उन सबकी कुल श्रद्धा यद्यपि भिन्न भिन्न थी फिर भी वह थोड़ी बहुत प्रतिमा-पूजनके अश्रद्धालुओंके समान थी।

लोग मुझे प्रथमसे ही शक्तिशाली और गाँवका नामांकित विद्यार्थी मानते थे, इससे मैं कभी कभी जनमंडलमें बैठकर अपनी चपल शक्ति बतानेका प्रयत्न किया करता था।

वे लोग कंठी बांधनेके कारण बार बार मेरी हास्यपूर्वक टीका करते, तो भी में उनसे वादविवाद करता और उन्हें समझानेका प्रयत्न करता था।

धीरे-धीरे मुझे जैनोंके प्रतिक्रमण सूत्र इत्यादि ग्रन्थ पढ़नेको मिले। उनमें बहुत विनयपूर्वक जगतके समस्त जीवोंसे मैत्री भाव प्रकट किया है। इससे मेरी उस ओर प्रीति हुई और प्रथममें रही। परिचय बढ़ता गया। स्वच्छ रहनेका और दूसरे आचार विचार मुझे वैष्णवोंके ही प्रिय थे, जगत्कर्ताकी भी श्रद्धा थी। इतनेमें कंठी टूट गई, और इसे दुबारा मैंने नहीं बांधी। उस समय बांधने न बांधनेका कोई कारण मैंने नहीं ढूंढा था। यह मेरी तेरह वर्षकी वय चर्या है। इसके बाद अपने पिताकी दुकानपर बैठने लगा था, अपने अक्षरोंकी छटाके कारण कच्छ दरबारके महलमें लिखनेके लिए जब जब बुलाया जाता था तब वहाँ जाता था। दुकान पर रहते हुए मैंने अनेक प्रकारका आनन्द किया है, अनेक पुस्तकें पढ़ी हैं, राम आदिके चरित्रों पर कविताएं रची हैं, सांसारिक तृष्णाएं की हैं, तो भी किसीको मैंने कम-अधिक भाव नहीं कहा अथवा किसीको, कम-ज्यादा तोलकर नहीं दिया, यह मुझे बराबर याद है।"

इस परसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे एक अति संस्कारी आत्मा थे। बड़े बड़े विद्वान् भी जिस

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थौ— आचार्य इस लोकमें, [इह] इस ग्रन्थमें [निश्चयं] निश्चयनयको [भूतार्थं] भूतार्थ और [व्यवहारं] व्यवहारनयको [अभूतार्थं] अभूतार्थ [वर्णयन्ति] वर्णन करते हैं। [प्रायः] बहुत करके [भूतार्थबोधविमुखः] भूतार्थ अर्थात् निश्चयनयके ज्ञानसे विरुद्ध जो अभिप्राय है, वे [सर्वोऽपि] समस्त ही [संसारः] संसारस्वरूप हैं।

भावार्थ— 'भूतार्थ' शब्दका अर्थ सत्यार्थ है, और अभूतार्थ [illegible] जैसाका तैसा वस्तुके स्वरूपको सत्यार्थ कहते हैं। यद्यपि जीव और पुद्गलका अनादिकालसे एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है और दोनों मिले हुए दीखते हैं। तथापि निश्चयनय शुद्ध आत्मद्रव्यको परद्रव्योंसे भिन्न ही प्रकाश करता है, और वही भिन्नता मुक्त दशामें प्रकट होती है। अतएव निश्चयनय ही भूतार्थ है। यद्यपि जीव और पुद्गलका सत्त्व भिन्न है, [illegible] भिन्न है [illegible] व्यवहारनय एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धको पाकर आत्मद्रव्यको शरीरादिक परद्रव्योंसे एकरूप कहता है। मुक्तिदशामें प्रकट भिन्नता होनेसे व्यवहारनयमें कहे हुए [illegible] है। इसलिये व्यवहारनय अभूतार्थ है।

'प्रायः भूतार्थबोधविमुखः सर्वोऽपि संसारः' इस वाक्यका विशेषार्थ— [illegible] निश्चयनयसे [illegible] विमुख होकर शरीरादिक परद्रव्योंमें [illegible] करता है। इसको ही संसार कहते हैं, संसार कोई पृथक् वस्तु नहीं है। इसलिये जो जीव संसारसे मुक्त होना चाहें, उनको शुद्ध (निश्चय) नयका अनुसरण करना योग्य है।

[illegible]

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम् ।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥ ६ ॥

है। उत्कृष्ट संवेग, ज्ञान—योग और सत्संगसे यह ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् पूर्वभव प्रत्यक्ष अनुभवमें आ जाता है।

जबतक पूर्वभव गम्य न हो तब तक आत्मा भविष्यकालके लिए शंकितभावसे धर्म प्रयत्न किया करती है, और ऐसा सशंकित प्रयत्न योग्य सिद्धि नहीं देता।" पुनर्जन्मकी सिद्धिके लिए श्रीमद्‌जीने एक विस्तृत पत्र लिखा है जो 'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रंथमें प्रकाशित है। पुनर्जन्म सम्बन्धी इनके विचार बड़े गम्भीर और विशेष प्रकारसे मनन करने योग्य हैं।

१९ वर्षकी अवस्थामें श्रीमद्‌जीने एक बड़ी भारी सभामें सौ अवधान किए थे, जिसे देखकर उपस्थित जनता दाँतों तले उंगली दबाने लगी थी।

अंग्रेजीके प्रसिद्ध पत्र 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' ने अपने ता. २४ जनवरी १८८७ के अंकमें श्रीमद्‌जीके सम्बन्धमें एक लेख लिखा था, जिसका शीर्षक था 'स्मरण शक्ति तथा मानसिक शक्तिके अद्‌भुत प्रयोग।'

"राजचन्द्र रवजीभाई नामके एक १९ वर्षके युवा हिन्दूकी स्मरण शक्ति तथा मानसिक शक्तिके प्रयोग देखनेके लिये गत शनिवारको संध्या समय फरामजी कावसजी इन्स्टीट्यूटमें देशी सज्जनोंका एक भव्य सम्मेलन हुआ था। इस सम्मेलनके सभापति डाक्टर पिटर्सन नियुक्त हुए थे। भिन्न भिन्न जातियोंके दर्शकोंमें से दस सज्जनोंकी एक समिति संगठित की गई। इन सज्जनोंने दस भाषाओंके छ छ शब्दोंके दस वाक्य बनाकर लिख लिए और अक्रमसे बारी बारीसे सुना दिए। थोड़े ही समय बाद इस हिन्दू युवकने दर्शकोंके देखते देखते स्मृतिके बलसे उन सब वाक्योंको क्रमपूर्वक सुना दिया। युवककी इस शक्तिको देखकर उपस्थित मंडली बहुत ही प्रसन्न हुई।

इस युवाकी स्पर्शन इन्द्रिय और मन इन्द्रिय अलौकिक थी। इस परीक्षाके लिये अन्य अन्य प्रकारकी कोई बारह जिल्दें बतलाई गईं और उन सबके नाम सुना दिए गए। इसके आँखों पर पट्टी बांधकर इसके हाथों पर जो जो पुस्तकें रखी गई, उन्हें हाथोंसे टटोलकर इस युवकने सब पुस्तकोंके नाम बता दिए। डा० पिटर्सनने इस युवककी इस प्रकार आश्चर्यपूर्ण स्मरण शक्ति और मानसिक शक्तिका विकास देखकर बहुत बहुत धन्यवाद दिया और समाजकी ओरसे सुवर्ण-पदक और साक्षात् सरस्वतीकी पदवी प्रदान की गई।

उस समय चार्ल्स सारजंट बम्बई हाई कोर्टके चीफ जस्टिस थे। वे श्रीमद्‌जीकी इस शक्तिसे बहुत ही प्रभावित हुए। सुना जाता है कि सारजंट महोदयने श्रीमद्‌जीसे इंग्लैंड चलनेका आग्रह किया था, परन्तु वे कौटुम्बिक दूर रहनेके कारण चार्ल्स महाशयकी इच्छाके अनुकूल न हुए अर्थात् इंग्लैंड न गए।"

भावार्थ—जैसे बालक जो सिंह और बिल्ली दोनोंसे अजान है, बिल्लीको ही सिंह मान लेता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव निश्चयनयको बिना जाने व्यवहारको ही निश्चय मान बैठता है, क्योंकि श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप मोक्षमार्गको नहीं पहिचानकर व्यवहाररूप दर्शन, ज्ञान, चारित्रका साधन कर आपको मोक्षमार्गी मानता है, अर्थात् अरहंतदेव, निर्ग्रन्थगुरु, दयामयी धर्मका श्रद्धान कर सम्यग्दृष्टी मानता और किंचित् जिनवाणीको जानकर ज्ञानवान् मानता है, महाव्रतादि क्रियाओंके साधनसे अपनेको चारित्रवान् मानता है, इस भाँति अज्ञानी जीव शुभोपयोगमें संतुष्ट होकर शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्गमें प्रमादी हो जाते हैं और केवल व्यवहारनयके ही अवलंबी हो जाते हैं। ऐसे जीवोंको उपदेश देना निष्फल है।

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थौ—[**यः**] जो जीव [**व्यवहारनिश्चयौ**] व्यवहारनय और निश्चयनयको [**तत्त्वेन**] वस्तुस्वरूपकर [**प्रबुध्य**] यथार्थरूप जानकर [**मध्यस्थः**] मध्यस्थ [**भवति**] होता है, अर्थात् निश्चयनय व व्यवहारनयके पक्षपात रहित होता है, [**सः**] वह [**एव**] ही [**शिष्यः**] शिष्य [**देशनायाः**] उपदेशके [**अविकलं**] सम्पूर्ण [**फलं**] फलको [**प्राप्नोति**] प्राप्त होता है।

भावार्थ—जीवमें अनेक गुणोंकी आवश्यकता है, परन्तु इस सूत्रमें व्यवहार निश्चयको जानकर हठग्राही न होना मुख्य गुण है—

उक्तं च गाथा—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह। एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥
[illegible]

अर्थात् जो तू जिनमतमें प्रवर्तन करता है, तो व्यवहार निश्चयको मत छोड़। जो निश्चयका पक्षपाती होकर व्यवहारको छोड़ेगा, तो रत्नत्रयस्वरूप धर्मतीर्थका अभाव हो जायगा, और जो व्यवहारका पक्षपाती होकर निश्चयको छोड़ेगा, तो [illegible] [illegible] [illegible]

इति [illegible]

है। उत्कृष्ट संवेग, ज्ञान–योग और सत्संगसे यह ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् पूर्वभव प्रत्यक्ष अनुभवमें आ जाता है।

जबतक पूर्वभव गम्य न हो तब तक आत्मा भविष्यकालके लिए शंकितभावसे धर्म प्रयत्न किया करती है, और ऐसा सशंकित प्रयत्न योग्य सिद्धि नहीं देता।" पुनर्जन्मकी सिद्धिके लिए श्रीमद्‌जीने एक विस्तृत पत्र लिखा है जो 'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रंथमें प्रकाशित है। पुनर्जन्म सम्बन्धी इनके विचार बड़े गम्भीर और विशेष प्रकारसे मनन करने योग्य हैं।

१९ वर्षकी अवस्थामें श्रीमद्‌जीने एक बड़ी भारी सभामें सौ अवधान किए थे, जिसे देखकर उपस्थित जनता दाँतों तले उंगली दबाने लगी थी।

अंग्रेजीके प्रसिद्ध पत्र 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' ने अपने ता. २४ जनवरी १८८७ के अंकमें श्रीमद्‌जीके सम्बन्धमें एक लेख लिखा था, जिसका शीर्षक था 'स्मरण शक्ति तथा मानसिक शक्तिके अद्भुत प्रयोग।'

"राजचन्द्र रवजीभाई नामके एक १९ वर्षके युवा हिन्दूकी स्मरण शक्ति तथा मानसिक शक्तिके प्रयोग देखनेके लिये गत शनिवारको संध्या समय फरामजी कावसजी इन्स्टीट्यूटमें देशी सज्जनोंका एक भव्य सम्मेलन हुआ था। इस सम्मेलनके सभापति डाक्टर पिटर्सन नियुक्त हुए थे। भिन्न भिन्न जातियोंके दर्शकोंमें से दस सज्जनोंकी एक समिति संगठित की गई। इन सज्जनोंने दस भाषाओंके छ छ शब्दोंके दस वाक्य बनाकर लिख लिए और अक्रमसे बारी बारीसे सुना दिए। थोड़े ही समय बाद इस हिन्दू युवकने दर्शकोंके देखते देखते स्मृतिके बलसे उन सब वाक्योंको क्रमपूर्वक सुना दिया। युवककी इस शक्तिको देखकर उपस्थित मंडली बहुत ही प्रसन्न हुई।

इस युवाकी स्पर्शन इन्द्रिय और मन इन्द्रिय अलौकिक थी। इस परीक्षाके लिये अन्य अन्य प्रकारकी कोई बारह जिल्दें बतलाई गईं और उन सबके नाम सुना दिए गए। इसके आँखों पर पट्टी बांधकर इसके हाथों पर जो जो पुस्तकें रखी गई, उन्हें हाथोंसे टटोलकर इस युवकने सब पुस्तकोंके नाम बता दिए। डा० पिटर्सनने इस युवककी इस प्रकार आश्चर्यपूर्ण स्मरण शक्ति और मानसिक शक्तिका विकास देखकर बहुत बहुत धन्यवाद दिया और समाजकी ओरसे सुवर्ण-पदक और साक्षात् सरस्वतीकी पदवी प्रदान की गई।

उस समय चार्ल्स सारजंट बम्बई हाई कोर्टके चीफ जस्टिस थे। वे श्रीमद्‌जीकी इस शक्तिसे बहुत ही प्रभावित हुए। सुना जाता है कि सारजंट महोदयने श्रीमद्‌जीसे इंग्लैंड चलनेका आग्रह किया था, परन्तु वे कीर्तिसे दूर रहनेके कारण चार्ल्स महाशयकी इच्छाके अनुकूल न हुए अर्थात् इंग्लैंड न गए।"

इसके अतिरिक्त बम्बई समाचार आदि अखबारोंमें भी इनके शतावधानके समाचार प्रकाशित हुए थे। बादमें अवधानके प्रयोगोंको आत्मचिन्तनमें अन्तरायरूप मानकर उनका करना बन्द कर दिया था। इसीसे इससे भी अनुमान किया जा सकता है कि वे कीर्ति आदिसे कितने निरपेक्ष थे। उनके

भावार्थ- जैसे बालक जो सिंह और बिल्ली दोनोंको नहीं जानता है, बिल्लीको ही सिंह मान लेता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव निश्चयनयको बिना जाने व्यवहारको ही निश्चय मान बैठता है, अर्थात् श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप मोक्षमार्गको [illegible] दर्शन, ज्ञान, चारित्रका साधन कर आपको मोक्षमार्गी मानता है, अर्थात् [illegible] मानता और किंचित् जिनवाणीको [illegible] मानता है, [illegible] है. इस भाँति अज्ञानी जीव [illegible] मोक्षमार्गमें प्रमादी हो जाते हैं और केवल व्यवहारनयके ही [illegible] होते हैं। ऐसे जीवोंको उपदेश देना निष्फल है।

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थौ—[यः] जो जीव **[व्यवहारनिश्चयौ]** व्यवहारनय और निश्चयनयको **[तत्त्वेन]** वस्तुस्वरूपके द्वारा **[प्रबुध्य]** यथार्थरूप जानकर **[मध्यस्थः]** मध्यस्थ **[भवति]** होता है, अर्थात् निश्चयनय व व्यवहारनयके पक्षपात रहित होता है, **[सः]** वह **[एव]** ही **[शिष्यः]** शिष्य **[देशनायाः]** उपदेशके **[अविकलं]** सम्पूर्ण **[फलं]** फलको **[प्राप्नोति]** प्राप्त होता है।

भावार्थ—लोकमें अनेक मतोंके [illegible] हैं, परंतु इस [illegible] व्यवहार निश्चयको [illegible] पक्षपाती न होना दुर्लभ है—

उक्तं च गाथा—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह । एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥
[illegible]

अर्थात् जो तू जिनमतको प्रवर्ताना चाहता है, तो व्यवहार निश्चयको मत छोड़ । [illegible] [illegible] छोड़ देगा, तो [illegible] ही [illegible] और जो [illegible] होकर निश्चयको छोड़ेगा, तो [illegible] होता है। इसलिये [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] हैं और [illegible] ही [illegible] [illegible] करते हैं।

इति [illegible]

रद्द करके मोती उसे वापस दिए । श्रीमद्जीको इस सौदे से हजारोंका फायदा था, तो भी उन्होंने उसकी अन्तरात्माको दु:खित करना अनुचित समझा और मोती लौटा दिए। कितनी निस्पृहता-लोभ वृत्तिका अभाव। आजके व्यापारियोंमें जो सत्यता आजाय तो सरकारको नित्य नये नये नियम बनानेकी जरूरत ही न रहे और मनुष्य समाज सुखपूर्वक जीवन यापन कर सके ।

श्रीमद्जीकी दृष्टि बड़ी विशाल थी। आज भी भिन्न भिन्न सम्प्रदायवाले उनके वचनोंका रुचि सहित आदरपूर्वक अभ्यास करते हुए देखे जाते हैं। उन्हें वाडा बन्दी पसन्द नहीं थी। वे कहा करते थे कि कुगुरुओंने लोगोंकी मनुष्यता लूट ली है, विपरीत मार्गमें रुचि उत्पन्न करादी है, सत्य समझानेकी अपेक्षा कुगुरु अपनी मान्यताको ही समझानेका विशेष प्रयत्न करते हैं ।

श्रीमद्जीने धर्मको स्वभावकी सिद्धि करनेवाला कहा है। धर्मोंमें जो भिन्नता देखी जाती है, उसका कारण दृष्टिकी भिन्नता बतलाया है। इसी बातको वे स्वयं दोहोंमें प्रगट करते हैं ।

भिन्न भिन्न मत देखिए, भेद दृष्टिनो एह ।
एक तत्त्वना मूलमां, व्याप्या मानो तेह ॥
तेह तत्त्वरूप वृक्षनुं, आत्मधर्म छे मूल ।
स्वभावनी सिद्धि करे, धर्म ते ज अनुकूल ॥

अर्थात् भिन्न भिन्न जो मत देखे जाते हैं, वह सब दृष्टिका भेद है। सब ही मत एक तत्त्वके मूलमें व्याप्त हो रहे हैं। उस तत्त्वरूप वृक्षका मूल है आत्मधर्म, जो कि स्वभावकी सिद्धि करता है; और वही धर्म प्राणियोंके अनुकूल है ।

श्रीमद्जीने इस युगको एक अलौकिक दृष्टि प्रदान की है। वे रूढ़ि या अन्धश्रद्धाके कट्टर विरोधी थे। उन्होंने आडम्बरोंमें धर्म नहीं माना था। मत-मतान्तर तथा कदाग्रहादिसे बहुत ही दूर रहते थे; वीतरागता की ओर ही उनका लक्ष्य था ।

पेढ़ीसे अवकाश लेकर वे अमुक समयतक खंभात, काविठा, उत्तरसंडा, नडियाद, वसो और ईडरके पर्वतमें एकान्तवास किया करते थे। मुमुक्षुओंको आत्मकल्याणका सच्चा मार्ग बताते थे। इनके एक एक पत्रमें कोई अपूर्व रस भरा हुआ है। उन पत्रोंका मर्म समझनेके लिए सन्त समागमकी विशेष आवश्यकता अपेक्षित है। ज्यों ज्यों इनके लेखोंका शान्त और एकाग्र चित्तसे मनन किया जाता है, त्यों त्यों आत्मा क्षणभरके लिए एक अपूर्व आनन्दका अनुभव करता है। 'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थके पत्रोंमें उनका पारमार्थिक जीवन जहां तहां दृष्टिगोचर होता है ।

श्रीमद्जीकी भारतमें अच्छी प्रसिद्धि हुई। मुमुक्षुओंने उन्हें अपना मार्ग-दर्शक माना। बम्बई रहकर भी वे पत्रों द्वारा मुमुक्षुओंकी शंकाओंका समाधान करते रहते थे। प्रातःस्मरणीय श्री रघुराज स्वामी इनके शिष्योंमें मुख्य थे। श्रीमद्जी द्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञानका संसारमें प्रचार हो तथा अनादिसे परिभ्रमण करनेवाले जीवोंको मोक्षमार्ग मिले, इस उद्देश्यसे स्वामीजीके उपदेशसे श्रीमद्जीके उपासकोंने

भावार्थ—जैसे बालक जो सिंह और बिल्ली दोनोंको नहीं जानता है, बिल्लीको ही सिंह मान लेता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव निश्चयनयको बिना जाने व्यवहारको ही निश्चय मान लेता है, आत्माके श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप मोक्षमार्गको नहीं पहिचानकर व्यवहाररूप दर्शन, ज्ञान, चारित्रका साधन कर अपनेको मोक्षमार्गी मानता है, अर्थात् अर्हन्तदेव, निर्ग्रन्थगुरु, दयामयी धर्मका श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टी मानता और किंचित् जिनवाणीको जानकर अपनेको ज्ञानी मानता है, महाव्रतादि क्रियाओंको धारण करनेसे अपनेको चारित्रवान् मानता है, इस भांति अज्ञानी जीव शुभोपयोगमें सन्तुष्ट होकर शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्गमें प्रमादी हो जाते हैं, और केवल व्यवहारनयके ही अवलम्बी हो जाते हैं। ऐसे जीवको उपदेश देना निष्फल है।

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थौ—[यः] जो जीव [व्यवहारनिश्चयौ] व्यवहारनय और निश्चयनयको [तत्त्वेन] वस्तुस्वरूपके द्वारा [प्रबुध्य] यथार्थरूप जानकर [मध्यस्थः] मध्यस्थ [भवति] होता है, अर्थात् निश्चयनय व व्यवहारनयके पक्षपात रहित होता है, [सः] वह [एव] ही [शिष्यः] शिष्य [देशनायाः] उपदेशके [अविकलं] सम्पूर्ण [फलं] फलको [प्राप्नोति] प्राप्त होता है।

भावार्थ—[illegible] परन्तु उन सबमें व्यवहार निश्चयको जान करके पक्षपाती न होना मुख्य गुण है—

उक्तं च गाथा—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह । एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥
[illegible] पृष्ठ १४.

[illegible]

इति पीठिका

वि. सं. १९५७ मिती चैत्र वदी ५ (गुजराती) मंगलवारको दोपहरके २ बजे राजकोटमें इस नश्वर शरीरका त्याग किया।

इनके देहान्तके समाचारसे मुमुक्षुओंमें अत्यन्त शोकके बादल छा गये। अनेक समाचार पत्रोंने भी इनके लिये शोक प्रदर्शित किया था।

श्रीमद्जीका पार्थिव शरीर आज हमारी आंखोंके सामने नहीं हैं, किन्तु उनका सद्उपदेश, जबतक लोकमें सूर्य, चन्द्र हैं तबतक स्थिर रहेगा तथा मुमुक्षुओंको आत्म-ज्ञानमें एक महान सहायक रूप होगा।

श्रीमद्जीने परम सत् श्रुतके प्रचारार्थ एक सुन्दर योजना तैयार की थी। जिससे मनुष्य समाजमें परमार्थ मार्ग प्रकाशित हो। इनकी विद्यमानतामें वह योजना सफल हुई और तदनुसार परमश्रुत प्रभावक मंडलकी स्थापना हुई। इस मंडलकी ओरसे दोनों सम्प्रदायोंके अनेक सद्ग्रन्थोंका प्रकाशन हुआ हैं। इन ग्रन्थोंके मनन अध्ययनसे समाजमें अच्छी जागृति आई। गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छमें आज घर घर सद् ग्रन्थोंका जो अभ्यास चालु है वह इसी संस्थाका ही प्रताप है। रायचंद्र जैन ग्रंथमाला मंडलकी अधीनतामें काम करती थी। राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी इस संस्थाके ट्रस्टी और भाई रेवाशंकर जगजीवनदासजी मुख्य कार्यकर्त्ता थे। भाई रेवाशंकरजीके देहोत्सर्ग बाद संस्थामें कुछ शिथिलता आगई; परन्तु अब उस संस्थाका काम श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगासके ट्रस्टीयोंने संभाल लिया हैं और सुचारु रूपसे पूर्वानुसार सभी कार्य चल रहा है।

इस आश्रमकी ओरसे श्रीमद्जीका सभी साहित्य सुपाठ्य रूपसे प्रकाशित हुआ है।

'श्रीमद् राजचन्द्र' एक विशाल ग्रन्थ है, जिसमें उनके आध्यात्मिक पत्र तथा लेखोंका अच्छा संग्रह है।

श्रीमद्जी के विषयमें विशेष जाननेकी इच्छावालोंको, इस आश्रम से प्रकाशित 'श्रीमद् राजचन्द्र जीवनकला' अवलोकनीय है।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम
अगास, व्हाया आणंद
(प. रेल्वे)

—गुणभद्र जैन

निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य स्वतः ही कर्म अवस्थाको धारण करते हैं। विशेष इतना ही है कि जो आत्मा देव, गुरु, धर्मादिक प्रशस्त रागरूप परिणमन करता है, उसके शुभ कर्मका बंध होता है, और जो अन्य अप्रशस्त राग द्वेष मोहरूप परिणमन करता है, उस पापका बंध होता है। यहाँ यदि यह प्रश्न किया जावे कि जीवके भाव तो सूक्ष्मरूप भावोंको कैसे जड़ पुद्गल किस प्रकार जानते हैं? और यदि नहीं जानते तो वे पुद्गलपरमाणु बिना ही कारण पुण्य-पापरूप परिणमन कैसे करते हैं? तो उसका उत्तर यह है कि जैसे एक मंत्रसाधक पुरुष गुप्त स्थानमें बैठकर किसी मंत्रका जाप करता है और उसके बिना ही किसी किसी मंत्रकी शक्तिसे अन्य मनुष्योंको पीड़ा उत्पन्न होती है अथवा सुख होता है। और इसी प्रकार अज्ञानी जीव अपने अन्तरंगमें उत्पन्न हुए विभावभावोंको करता है उनके बिना ही कहे कोई पुद्गल पुण्यरूप और कोई पुद्गल पापरूप परिणमन करते हैं। तात्पर्य इसके भावोंमें ऐसी कुछ विचित्र शक्ति है कि उसके निमित्तसे पुद्गल स्वयं ही अनेक अवस्थाओंको धारण करते हैं।

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि॥ १३॥

अन्वयार्थौ—[हि] निश्चय करके [स्वकैः] अपने [चिदात्मकैः] चेतनास्वरूप [भावैः] रागादिक परिणामोंसे [स्वयम् अपि] आप ही [परिणममानस्य] परिणमते हुए [तस्य चितः अपि] पूर्वोक्त आत्माके भी [पौद्गलिकं] पुद्गलसम्बन्धी [कर्म] ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म [निमित्तमात्रं] कारणमात्र [भवति] होते हैं।

भावार्थ—जीवके रागादिक विभावभाव स्वयं नहीं होते हैं क्योंकि जो स्वयं ही से उत्पन्न होवें तो ज्ञान दर्शनादिकके समान वे भी स्वभावभाव हो जावें। और स्वभाव भाव होनेसे इनका नाश भी न होवे। इसलिये ये भाव औपाधिक हैं, क्योंकि अन्य निमित्त से उत्पन्न होते हैं, और वह निमित्त द्रव्यकर्मोंका उदय जानना चाहिये, जैसे जैसे द्रव्यकर्म उदय अवस्थाको प्राप्त होते हैं, वैसे वैसे आत्मा विभावभावोंसे परिणमन करता है, तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि [illegible]

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्॥ १४॥

आचार्य शुभचन्द्रने अपने ज्ञानार्णव (पृ० १७७) में अमृतचन्द्रके पुरुपार्थसिद्ध्युपायका 'मिथ्यात्व-वेदरागा' आदि पद्य 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत किया है, इसलिए अमृतचन्द्र शुभचन्द्रसे भी पहलेके हैं और पद्मप्रभ मलधारिदेवने शुभचन्द्रके ज्ञानार्णवका एक श्लोक उद्धृत किया है, इस लिए शुभचन्द्र पद्मप्रभसे पहलेके हैं[1]।

लेखान्तरमें हमने पद्मप्रभका समय विक्रमकी बारहवीं सदीका अन्त और तेरहवीं सदीका प्रारंभ बतलाया है, इसलिए अमृतचन्द्रका समय विक्रमकी बारहवीं सदीके बाद नहीं माना जा सकता।

डा० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी प्रस्तावनामें तात्पर्यवृत्तिके कर्त्ता जयसेनका समय ईसाकी बारहवीं सदीका उत्तरार्ध, अर्थात् विक्रमकी तेरहवीं सदीका प्रारंभ अनुमान किया है, और जयसेन अमृतचन्द्रकी तत्त्वदीपिकासे यथेष्ट परिचित जान पड़ते हैं। इससे भी अमृतचन्द्रका समय उनसे पहले, विक्रमकी बारहवीं सदी ठीक जान पड़ता है।

क्या अमृतचन्द्रका कोई प्राकृत ग्रन्थ है?

प्रवचनसारकी तात्पर्यवृत्तिमें जयसेनाचार्यने नीचे लिखी दो गाथाओंकी टीका की है, परन्तु अमृत-चन्द्रसूरिने अपनी वृत्तिमें नहीं की। इससे माद्धम होता है कि वे इन्हें मूलग्रन्थकी नहीं मानते थे।

पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मांसपेसीसु।
संततियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणं॥

जो पक्कमपक्कं वा पेसीं मंसस्स खादि फासदि वा।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं॥

राजवार्तिकमें सूत्र २२ की टीका (पृ० २८४) में नीचे लिखी गाथा 'उक्तं च' रूपमें दी गई है—

रागादीणमणुप्पा अहिंसकत्तेति देसिदं समये।
तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेति जिणे हि णिद्दिट्ठा॥

इसी तरह अनगारधर्मामृत-टीका (पृ० ५४२) में नीचे लिखी गाथा 'उक्तं च' रूप दी हुई है—

अत्ता कुणदि सहावं तत्थ गदा पुग्गला सहावेहिं।
गच्छंति कम्मभावं अण्णुण्णागाढमोगाढा॥

हम देखते हैं कि पुरुपार्थसिद्ध्युपायमें इन चारों गाथाओंका प्रायः शब्दशः अनुवाद इस प्रकार मौजूद है—

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम॥ ६७॥

---

[1] देखो नियमसारटीकाका पृ० ७२ और ज्ञानार्णवका पृ० ४३१।

आठ प्रकार स्पर्श, दो प्रकार गंध, पांच प्रकार रस, पांच प्रकार वर्ण, इत्यादि पौद्गलिक लक्षणोंसे रहित अमूर्तिक जीव है। इस विशेषणसे जीवको पुद्गलसे पृथक्ता प्रकट की गई है, क्योंकि यह आत्मा अनादिसम्बन्धरूप पुद्गल द्रव्यमें अहंकार ममकाररूप प्रवृत्ति करता है। पुनः "**गुणपर्ययसमवेतः**" गुण पर्यायोंसे संयुक्त है, क्योंकि द्रव्य गुण-पर्यायमय है। आत्मा एक द्रव्य है, [illegible] पर्यायों सहित विराजमान है। गुणका लक्षण सहभू है अर्थात् जो द्रव्यमें सदाकाल पाये जावें, [illegible] होते हैं। आत्मामें साधारण और असाधारण दोनों ही प्रकारके गुण हैं। जिनमें ज्ञान दर्शनादिक तो असाधारण गुण हैं, क्योंकि इनकी प्राप्ति अन्य द्रव्योंमें नहीं है। और अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादिक साधारण गुण हैं, क्योंकि ये अन्य द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं। पर्यायका लक्षण क्रमवर्ती है, द्रव्यमें जो क्रम-क्रमसे उत्पन्न होवें, उन्हें पर्याय कहते हैं, [illegible] के जिनाकारके **व्यंजनपर्याय** और [illegible] **अर्थपर्याय**। इन गुणपर्यायोंसे [illegible] है। इस विशेषणसे [illegible] है। यथा—"**समुदयव्ययध्रौव्यैः समाहितः**"—[illegible] उत्पाद, पूर्व पर्यायका नाश सो व्यय, और वस्तुकी [illegible] **ध्रौव्य**, कहते हैं। आत्मा इन तीनोंसे संयुक्त रहता है, [illegible] उत्पत्ति (**उत्पाद**) [illegible] विनाश (**व्यय**) और [illegible] **ध्रौव्य** (स्थिरता) रहता है। इस विशेषणसे आत्माका अस्तित्व [illegible] है।

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसन्तत्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्ता च भोक्ता च ॥ १० ॥

अन्वयार्थौ—[सः] [illegible] [अनादिसन्तत्या] [illegible] [नित्यं] [illegible] [ज्ञानविवर्तैः] [illegible] [परिणममानः] [illegible] [स्वेषां] [illegible] [परिणामानां] [illegible] [कर्ता च भोक्ता च] [illegible] [भवति] [illegible] है।

१६१०) भी है । अभी हाल ही हमने बड़ी उत्सुकतासे इस प्रतिको देखा । सोचा कि टीकासे शायद इसके कर्त्ता आदिके विषयमें कोई नई बात मालूम हो । परन्तु निराश होना पड़ा । उसमें न तो टीका-कर्त्ताने अपना नाम ही दिया है और न मूलके विषयमें ही कुछ लिखा है । अन्तमें इतना ही लिखता है—“इति ढाढसीमुनीनां विरचिता गाथा सम्पूर्णा । ” मालूम नहीं, ये ढाढसी मुनि कौन और कब हुए हैं ? ढाढसी नाम भी बड़ा अद्भुत-सा है ।

इस ग्रन्थमें काष्ठासंघ, मूलसंघ और निःपिच्छिक (माथुर) संघोंका उल्लेख है और इनमेंसे अन्तिम माथुरसंघकी उत्पत्ति देवसेनसूरिके दर्शनसारमें वि० सं० ९५३ के लगभग बतलाई गई है । यदि वह सही है तो यह ग्रन्थ विक्रमकी ग्यारहवीं सदीके पहलेका नहीं हो सकता । परन्तु इससे अमृतचन्द्रके समय-निर्णयमें कोई सहायता नहीं मिल सकती । हाँ, यदि अमृतचन्द्रने अपने किसी ग्रन्थमें उक्त ‘संघो कोवि’ ‘आदि गाथा उद्धृत गाथाको ही मेघविजयजीने उनकी समझ लिया हो, तो फिर इससे भी ढाढसी गाथाके बाद १० वीं शताब्दिका अमृतचन्द्रको मान सकते हैं ।

(—जैन साहित्य और इतिहाससे उद्धृत)

अमृतचन्द्रके विषयमें कुछ नया प्रकाश

अभी हालही रल्हणके पुत्र सिंह या सिद्ध नामक कविका ‘पज्जुण्णचरिउ (प्रद्युम्नचरित)’ नामका अपभ्रंश काव्य प्राप्त हुआ है जो कि बाँभणवाड़ा (सिरोहीके पास) निर्मित हुआ था[1] । उस समय वहाँका राजा गुहिलवंशी भुल्लण था जो मालवनरेश बल्लालका मांडलिक था और जिसका राज्यकाल विक्रम संवत् १२०० के आस-पास है । इस काव्यमें लिखा है कि एक[3] समय मलधारिदेव माधवचन्द्रके

१—इस काव्यका विस्तृत परिचय मेरे स्वर्गीय मित्र मोहनलाल दलीचन्द देसाई बी० ए०, एलएल० बी०, अपने ‘कुमारपालना समयनुं एक अपभ्रंश काव्य’ शीर्षक गुजराती लेखमें दिया है जो ‘श्री आत्मानन्द-जन्मशताब्दि स्मारक ग्रन्थ’में प्रकाशित हुआ है ।

२—मालवेके परमार राजाओंकी वंशावलीमें ‘बल्लाल’का नाम नहीं मिलता । यह किस वंशका था, सो भी पता नहीं । परन्तु ‘मालवराज’ विशेषण इसके साथ लगा हुआ है । परमार राजा यशोवर्माके बाद इसका मालवेपर अधिकार रहा है । यशोवर्माका अन्तिम दानपत्र वि० सं० ११९२ का लिखा हुआ मिला है । बल्लालको कुमारपाल सोलंकीने हराया था और कुमारपाल वि० सं० १२०० में गद्दीपर बैठे थे ।

३—तहो मलधारिदेउ मुणिपुंगमु, णं पच्चक्खु धम्मु उवसमु दमु । माहउचंदु आसि सुपसिद्धउ, जो खम-दम-जम-णियमसमिद्धउ ॥ तासु सीसु तव-तेय-दिवायरु, वय-तव-णियम-सील रयणायरु । तक्क-लहरि-झंकोलिय परमउ, वर-वायरण-पवर पसरिय पउ । जासु भुवण दूरंतरु वंकिवि, ठिउ पच्छण्णु मयणु आसंकिवि । अमियचंदु णामेण भडारउ, सो विहरंतु पत्तु बुहसारउ, सरि-सर-णंदण वण संछण्णउ, मढ-विहार-जिण-भवण रवण्णउ । बंभणवाडउ णामें पट्टणु, अरिणरणाह-सेण-दलवट्टणु । जो भुंजइ अरिणयकालहो, रणधोरियहो सुयहो बल्लालहो । जासु भिच्चु दुज्जण-मणसल्लणु, खत्तिउ गुहिलउत्तु जहिं भुल्लणु । तहिं संपत्तु मुणीसरु जावहिं, भव्वुलोउ आणंदिउ तावहिं ।

[illegible]-वायव-वाया-हरणु, छम्मु, सुयकेवलिजो पयरयसुधम्मु । सो जयउ महामुणि अमियचंदु, जो [illegible] चंदु । मलधारिदेव-पय-पोम-भसलु, जंगम सरसइ सव्वत्थकुसलु ।

निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य स्वतः ही कर्मों [illegible] अवस्थाको प्राप्त होते हैं। विशेष [illegible] ११
[illegible]
[illegible]
[illegible] पुद्गलद्रव्य [illegible] प्रकार होते हैं [illegible]
[illegible] परिणमन कैसे करते हैं [illegible]
कि जैसे एक मंत्रसाधक पुरुष गुप्त स्थानमें बैठकर किसी मंत्रका जप करता है और उसके बिना ही किये केवल मंत्रकी शक्तिसे अन्य जीवोंको पीड़ा उत्पन्न होती है अथवा सुख होता है। ठीक इस ही प्रकार अज्ञानी जीव अपने अन्तरंगमें उत्पन्न हुए विभावभावोंको [illegible] उनके बिना ही किये कोई पुद्गल पुण्यरूप और कोई पुद्गल पापरूप परिणमन करते हैं। तात्पर्य इतना ही है कि पुद्गलमें ऐसी कुछ विचित्र शक्ति है कि जीवके निमित्तसे पुद्गल स्वयं ही अनेक अवस्थाओंको प्राप्त करते हैं।

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—[हि] निश्चय करके [स्वकैः] अपने [चिदात्मकैः] चेतनास्वरूप [भावैः] रागादिक परिणामोंसे [स्वयम् अपि] आप ही [परिणममानस्य] परिणमते हुए [तस्य चितः अपि] पूर्वोक्त आत्माके भी [पौद्गलिकं] पुद्गलसम्बन्धी [कर्म] ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म [निमित्तमात्रं] कारणमात्र [भवति] होते हैं।

भावार्थ—जीवके रागादिक विभावभाव स्वयं नहीं होते हैं क्योंकि [illegible]
[illegible]

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव ।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—[एवम्] इस प्रकार [अयं] यह आत्मा [कर्मकृतैः] कर्मकृत [भावैः] [illegible]
[illegible]

[illegible]

चौथी आवृत्तिकी भूमिका

इस ग्रन्थकी टीका सन् १९०४ में अबसे लगभग ४९ वर्ष पहले लिखीं गई थी। उस समय मैं इस क्षेत्रमें बिलकुल नया था और अपने परिश्रमके सिवाय मेरे पास ज्ञानकी कोई विशेष पूँजी नहीं थी। फिर भी इसे लोगोंने पसन्द किया और अब इसका यह चौथी आवृत्ति प्रकाशित हो रही है।

मैंने चाहा कई बार कि इसको एक बार अच्छी तरह पढ़ जाऊँ और इसमें जो त्रुटियाँ हैं उनकी पूर्ति कर दूँ। परन्तु हर बार प्रकाशक उसे ज्योंका त्यों ही प्रकाशित कराते गये। अब ४३ वर्ष बाद जब इसकी चौथी आवृत्तिको प्रेसमें दे दिया गया, तब भाई कुन्दनलालने इसकी सूचना मुझे दी। परन्तु दुर्भाग्यसे इसी समय मैं बीमार पड़ गया और इसलिए सिर्फ इतना ही कर सका कि प्रत्येक फार्मका प्रूफ एक बार देख गया और साधारण-से संशोधन कर सका। पं० बंशीधरजी शास्त्री (शोलापुर) से भी पूरे ग्रन्थके प्रूफ दिखा लिये गये हैं, इस खयालसे कि कहीं कोई व्याकरण और सिद्धान्तसम्बन्धी अशुद्धि न रह जावे।

जैसा कि पहले संस्करणकी प्रस्तावनामें लिखा गया है मैंने यह टीका मुख्यतः दो टीकाओंके आधारसे लिखी है—

१ पंडित प्रवर टोडरमलकी टीका जो कि अपूर्ण हैं और जिसे पं० दौलतरामजीने वि० सं० १८२७ में पूरा किया था।

२ शाहगंज (आगरा) के पं० भूधर मिश्रकृत टीका जो वि० सं० १८७१ में समाप्त की गई है।

स्व० बाबू सूरजभानजी वकील द्वारा प्रकाशित उनकी संक्षिप्त हिन्दी टीका भी उस समय मेरे सामने थी।

इधर पं० टोडरमलजीके जीवनके सम्बन्धमें जयपुरके पं० चैनसुखदासजीने 'वीरवाणी' में (३ फरवरी १९४८) जो बातें प्रकट की हैं उनका सारांश यह है—

पं० टोडरमलजी विक्रमकी १९ वीं शताब्दिके असाधारण प्रतिभाशाली विद्वान् थे। अपनी २८ वर्षकी अल्पायुमें उन्होंने जैन-साहित्यकी अतुलनीय सेवा की थी। **मोक्षमार्गप्रकाश** उनकी मौलिक अमर कृति है, यह यद्यपि उनकी असमायिक मृत्युके कारण अधूरा ही रह गया है, फिर भी जितना है उतना ही अपूर्व है। वे विद्वान्, धार्मिक क्रान्तिकर्ता, साहित्यसर्जक और असाधारण व्याख्याता थे। उनका जन्म वि० सं० १७९७ के लगभग हुआ था। ११–१२ वर्षकी अवस्थातक विद्याभ्यास करते रहे। १३–१४ वर्षके होते होते स्वमत-परमतके अनेक ग्रन्थोंका अभ्यास कर लिया। संभवतः उसी समय वे जयपुरसे सिंघाणा चले गये और तीन साढ़े तीन वर्षमें चार विशाल ग्रन्थोंकी भाषाटीकायें लिखीं, १८१५ में जयपुर आ गये। पिताजीकी मृत्यु हो गई और तब गृहस्थीका भार उनपर आ पड़ा। सन्

अन्वयार्थौ—[विपरीताभिनिवेशं] विपरीत श्रद्धानको [निरस्य] नाशकर [निजतत्त्वम्] निज स्वरूपको [सम्यक्] यथावत् [व्यवस्य] जानकर [यत्] जो [तस्मात्] उस अपने स्वरूपसे [अविचलनं] च्युत न होना [स एव] वह ही [अयम्] यह [पुरुषार्थसिद्ध्युपायः] पुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय है।

भावार्थ—पूर्वोक्त कर्मजनित पर्यायोंको अपना मानलेना इसको ही विपरीत श्रद्धान कहते हैं। इस विपरीत श्रद्धानके समूल नष्ट करनेको सम्यग्दर्शन, कर्मजनित पर्यायोंसे भिन्न निज चैतन्यस्वरूपको यथावत् जाननेको सम्यग्ज्ञान और कर्मजनित पर्यायोंसे उदासीन हो निजस्वरूपमें स्थिर होनेको सम्यक्चारित्र कहते हैं। सो इन तीनोंका अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्रका संयुक्त होना ही अर्थ सिद्ध होनेका उपाय है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा ।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थौ—[एतत्पदम् अनुसरतां] इस रत्नत्रयरूप पदवीको अनुसरण करनेवाले अर्थात् प्राप्त हुए [मुनीनाम्] महा मुनियोंकी [वृत्तिः] वृत्ति [करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा] पापक्रिया मिश्रित आचारोंसे सर्वथा पराङ्मुख, तथा [एकान्तविरतिरूपा] परद्रव्योंसे सर्वथा उदासीनरूप और [अलौकिकी] लोकसे विलक्षण प्रकारकी [भवति] होती है।

भावार्थ—महामुनियोंकी प्रवृत्ति साधारण लोगोंसे सर्वथा विलक्षण होती है। गृहस्थोंका आचरण पापक्रियासे मिला हुआ होता है, और ऐसे आचरणोंसे महामुनि सर्वथा दूर रहते हैं। वे केवल अपने आत्मीक चैतन्य स्वभावका ही अनुभव करते हैं।

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति ।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ॥ १७ ॥

अन्वयार्थौ—[यः] जो जीव [बहुशः] बारबार [प्रदर्शितां] दिखलाई हुई [समस्तविरतिं] सकल पापरहित मुनिवृत्तिको [जातु] कदाचित् [न गृह्णाति] ग्रहण न करे तो [तस्य] उसे [एकदेशविरतिः] एकदेश पापक्रियारहित गृहस्थाचार [अनेन बीजेन] इस हेतुसे [कथनीया] समझावे अर्थात् कथन करे।

भावार्थ—[illegible]

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः ।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥ १८ ॥

[illegible]

अन्वयार्थौ—[विपरीताभिनिवेशं] विपरीत श्रद्धानको [निरस्य] नष्ट कर [निजतत्त्वम्] निज स्वरूपको [सम्यक्] यथावत् [व्यवस्य] जानकर [यत्] जो [तस्मात्] उस अपने स्वरूपसे [अविचलनं] च्युत न होना [स एव] वह ही [अयम्] यह [पुरुषार्थसिद्ध्युपायः] पुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय है।

भावार्थ—कर्मोदयजनित पर्यायोंमें आत्मा मानलेना इसको ही विपरीत श्रद्धान कहते हैं। इस विपरीत श्रद्धानको समूल नष्ट करनेको सम्यग्दर्शन, कर्मजनित पर्यायोंसे भिन्न भिन्न शुद्धचैतन्यस्वरूपको यथावत् जाननेको सम्यग्ज्ञान और कर्मजनित पर्यायोंसे उदासीन हो निजस्वरूपमें निश्चल होनेको सम्यक्चारित्र कहते हैं। तथा इन तीनोंका अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्रका समुदाय ही पुरुषार्थ सिद्ध होनेका उपाय है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः॥ १६॥

अन्वयार्थौ—[एतत्पदम् अनुसरतां] इस रत्नत्रयरूप पदवीको अनुसरण करनेवाले अर्थात् प्राप्त हुए [मुनीनाम्] महा मुनियोंकी [वृत्तिः] वृत्ति [करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा] पापक्रिया मिश्रित आचारोंसे सर्वथा पराङ्मुख, तथा [एकान्तविरतिरूपा] परद्रव्योंसे सर्वथा उदासीनरूप और [अलौकिकी] लोकसे विलक्षण प्रकारकी [भवति] होती है।

भावार्थ—महामुनियोंकी प्रवृत्ति अद्भुत लोगोंसे सर्वथा निराली होती है। गृहस्थोंका आचरण पापक्रियासे मिला हुआ रहता है, और ऐसे आचरणोंसे महामुनि सर्वथा दूर रहते हैं। वह केवल स्वरूपमें [illegible] ही प्रवृत्ति करते हैं।

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन॥ १७॥

अन्वयार्थौ—[यः] जो जीव [बहुशः] बारम्बार [प्रदर्शितां] दिखलाई हुई [समस्तविरतिं] सकल पापरहित मुनिवृत्तिको [जातु] कदाचित् [न गृह्णाति] ग्रहण न करे तो [तस्य] उसे [एकदेशविरतिः] एकदेश पापक्रिया रहित गृहस्थाचार [अनेन बीजेन] इस हेतुसे [कथनीया] समझावे अर्थात् कथन करे।

भावार्थ—जो जीव [illegible]

[illegible]

है कि—

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्॥ १८॥

१ [illegible]

अन्वयार्थौ—[तत्रादौ] इन तीनोंमें प्रथम [अखिलयत्नेन] समस्त प्रकारके उपायोंसे [सम्यक्त्वं] सम्यग्दर्शन [समुपाश्रयणीयम्] भले प्रकार अंगीकार करना चाहिये [यतः] क्योंकि [तस्मिन् सति एव] उसके होते हुए ही [ज्ञानं] सम्यग्ज्ञान [च] और [चरित्रं] सम्यक् चारित्र [भवति] होता है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके बिना ग्यारह अंग और नव पूर्व तक पढ़ लिया हुआ ज्ञान भी 'अज्ञान' कहलाता है, तथा महाव्रतादिकोंको साधनाते [illegible] ग्रैवेयक तक [illegible] भी असंयमी कहलाता है, परन्तु सम्यक्त्वसहित [illegible] भी सम्यग्ज्ञान और [illegible] भी सम्यक्चारित्र होता है [illegible] [illegible] सम्यग्दर्शन [illegible] मोक्षमार्गी हो जाता है, [illegible] ज्ञान और चारित्र व्यर्थ ही है, [illegible] सम्यग्दर्शन [illegible] सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र भी [illegible] हो जाते हैं । अतएव सबसे प्रथम सम्यग्दर्शनको ही अंगीकार करना चाहिये पश्चात् [illegible] ।

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थौ—[जीवाजीवादीनां] जीव अजीव आदिक [तत्त्वार्थानां] तत्त्वार्थों का [विपरीताभिनिवेशविविक्तम्] विपरीत अभिनिवेशरहित अर्थात् [illegible] [श्रद्धानं] श्रद्धान अर्थात् दृढ़ विश्वास [सदैव] निरन्तर ही [कर्त्तव्यम्] करना चाहिये । क्योंकि [तत्] वह श्रद्धान ही [आत्मरूपं] आत्माका स्वरूप है ।

भावार्थ—[illegible] 'सामान्यरूप' और 'विशेषरूप' [illegible] **सामान्य तत्त्वार्थश्रद्धान** [illegible] **विशेष तत्त्वार्थश्रद्धान** है । [illegible]

[illegible]

१—जीवतत्त्व—[illegible]

[illegible]

(१) [illegible]

(२) [illegible]

११. श्रीमद्राजचन्द्र—श्रीमद् के पत्रों, रचनाओंका अपूर्व संग्रह, अध्यात्मका अपूर्व विशाल ग्रन्थ है।
मू० १० रू.

१२. न्यायावतार—महान् तार्किक सिद्धसेनदिवाकरकृत मूलश्लोक, सिद्धर्षिकी संस्कृतटीकाका हिन्दी अनुवाद जैनदर्शनाचार्य पं० विजयमूर्तिजी एम० ए० ने किया है। न्यायका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है।
मू० ५ रू.

१३. प्रशमरतिप्रकरण—आचार्य उमास्वातिकृत मूलश्लोक, श्रीहरिभद्रसूरिकृत संस्कृतटीका। अध्यात्म ग्रन्थ है।
मू० ६ रू.

१४. इष्टोपदेश—श्रीपूज्यपाद–देवनन्दिआचार्यकृत मूलश्लोक पं० प्रवर आशाधरकृत संस्कृतटीका, पं० धन्यकुमारजी जैनदर्शनाचार्य एम० ए० कृत हिन्दीटीका स्व० बैरिष्टर चम्पतरायजीकृत अंग्रेजीटीका। हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी पद्यानुवादों सहित। बड़ा सुन्दर ग्रन्थ है।
मू० १ रू. ५० पैसे, अंग्रेजीटीकाका मू० ७५ पैसे

पूर्व प्रकाशित पंचास्तिकाय गोमट्टसार कर्मकांड आदि भी इसी संस्था की ओर से पुनः प्रकाशित होनेवाली है।

नोट :—ग्रन्थ वी० पी० से न भेजे जायँगे। ग्रन्थोंका मूल्य पोष्टेज और रजिष्ट्री फीस के ५० पैसे पेशगी म० आ० से भेजना चाहिये। अधिक मूल्यके ग्रन्थ मंगानेवालोंको कमीशन दिया जायगा। इसके लिये वे हमसे पत्रव्यवहार करें।

श्रीमद् राजचन्द्राश्रम अगास द्वारा प्रकाशित गुजराती ग्रन्थ भी यहां से मिलेंगे जिनका लागत दामोंसे कम मूल्य रखा है। अलग सूचीपत्र मंगाइये।

प्राप्तिस्थान—श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, पोस्ट बोरिया, वाया आणंद (W. R.)

और परमश्रुतप्रभावक मंडल श्रीमद् राजचन्द्र जैनशास्त्रमाला
चौकसी चेम्बर, खाराकुवा, जौहरीबाजार, बम्बई नं. २

४. [illegible]— [illegible] है ।

५. [illegible]— [illegible] कहलाता है ।

६. [illegible]— [illegible] करते हैं ।

७. [illegible]— [illegible] करते हैं ।

[illegible] कहलाता है । [illegible] नहीं [illegible] चाहिये, जो [illegible] चाहिये :—

[illegible] है, [illegible] होता है, [illegible]

[illegible] है, [illegible] करता है, [illegible] है, [illegible] है, [illegible] है ।

[illegible] है ।

[illegible]

सूत्रावतारः

आर्याछन्दः—तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥ १ ॥

अन्वयार्थौ—[**यत्र**] जिसमें [**दर्पणतले इव**] दर्पणके पृष्ठभागके समान [**सकला**] सम्पूर्ण [**पदार्थमालिका**] पदार्थोंका समूह [**समस्तैरनन्तपर्यायैः समं**] अतीत, अनागत, वर्तमानकालकी समस्त अनन्त पर्यायोंसहित [**प्रतिफलति**] प्रतिबिम्बित होता है, [**तत्**] वह [**परं ज्योतिः**] सर्वोत्कृष्ट शुद्धचेतना स्वरूपी प्रकाश [**जयति**] जयवन्त होओ ।

भावार्थ—शुद्ध चेतना प्रकाशकी कोई ऐसी ही महिमा है कि उसमें सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने आकारसे प्रतिभासित होते हैं; और फिर उन पदार्थोंके जितने भूत भविष्यत् वर्तमान पर्याय हैं, वे भी प्रतिबिम्बित होते हैं, जैसे आरसीके पृष्ठभागमें घट पटादिक पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं ।

आरसीके दृष्टान्तमें विशेषता है । आरसीके कुछ ऐसी अभिलाषा नहीं है कि मैं इन पदार्थोंको प्रतिबिम्बित करूँ, और आरसी उस लोहेको सुईके समान जो कि चुम्बक पाषाणके समीप स्वयमेव जाती है अपने स्वरूपको छोड़ उनके प्रतिबिम्बित करनेको पदार्थोंके समीप नहीं जाती, तथा वे पदार्थ भी अपने स्वरूपको छोड़कर उस आरसीमें प्रवेश नहीं करते, तथा वे पदार्थ आपको प्रतिबिम्बित करनेके लिये साभिप्रायी (गरजी) पुरुषके सदृश प्रार्थना भी नहीं करते । सहज ही ऐसा सम्बन्ध है कि जैसा उन पदार्थोंका आकार है वैसे ही आकाररूप होकर आरसीमें प्रतिबिम्बित होते हैं । प्रतिबिम्बित होनेपर आरसी ऐसा नहीं मानती है कि "यह पदार्थ मुझको भला है, उपकारी है, राग करने योग्य है, अथवा बुरा है, अपकारी है, द्वेष करने योग्य है" किन्तु सर्व पदार्थोंमें साम्यभाव पाया जाता है । जैसे कितने एक घट पटादि पदार्थ आरसीमें प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे ही ज्ञानरूपी आरसी (दर्पण)में समस्त जीवादिक पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं । ऐसा कोई द्रव्य व पर्याय नहीं जो ज्ञानमें न आया हो । अतः शुद्ध चैतन्य पदार्थकी सर्वोत्कृष्ट महिमा स्तुति करने योग्य है । यदि यहाँपर कोई प्रश्न करे कि मंगलाचरणमें गुणीका स्तवन नहीं करके केवल गुणका स्तवन क्यों किया? तो इसका उत्तर यह है कि उक्त मंगलमें आचार्य महाराजने अपनी परीक्षाप्रधानता व्यक्त की है । क्योंकि भक्त पुरुष **आज्ञाप्रधानी** और **परीक्षाप्रधानी** ऐसे दो भेदरूप होते हैं । इनमेंसे जो पुरुष परम्परा मार्गसे **देव गुरुके** उपदेशको ज्यों त्यों प्रमाण कर विनयादि क्रियारूप प्रवृत्ति करता है, उसे **आज्ञाप्रधानी** कहते हैं; और जो प्रथम अपने सम्यग्ज्ञानद्वारा स्तुति करने योग्य गुणोंका निश्चयकर पश्चात् बहुगुणी जानकर श्रद्धा करता है, उसे **परीक्षाप्रधानी** कहते हैं । क्योंकि ऐसा शास्त्रकारोंने कहा है "**गुणाः पूजास्थानं गुणिषु नच लिङ्गं नच वयः**" अर्थात् कोई स्थान, वृद्धावस्था अथवा वेष पूज्य नहीं है, गुण ही पूज्य हैं । इस प्रकरणमें 'शुद्ध चैतन्यप्रकाशरूप गुण स्तुत्य है' ग्रन्थकर्त्ता आचार्यने यही प्रगट किया है, इस बातको सब ही स्वीकार करेंगे कि जिस पदार्थ विशेषमें उपयुक्त असाधारण गुण प्राप्त होवें वह सहज ही स्तुत्य होता है । क्योंकि गुण गुणी (पदार्थ) के ही आश्रित रह सकता है, पृथक् नहीं रह सकता; और किंचित् विचार करनेसे उक्त शुद्ध चैतन्य प्रकाश गुण अरहंत और सिद्धोंमें नियमसे निश्चित होता है ।

३. निर्विचिकित्सा[1]

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु ।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥ २५ ॥

अन्वयार्थौ—[क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु] भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि [नानाविधेषु] नाना प्रकारके [भावेषु] भावोंमें और [पुरीषादिषु] विष्टादिक [द्रव्येषु] पदार्थोंमें [विचिकित्सा] ग्लानि [नैव] नहीं [करणीया] करना चाहिये ।

भावार्थ—[illegible]

४. अमूढदृष्टित्व[2]

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥ २६ ॥

अन्वयार्थौ—[लोके] लोकमें [शास्त्राभासे] शास्त्राभासमें [समयाभासे] धर्माभासमें [च] और [देवताभासे] देवाभासमें [तत्त्वरुचिना] तत्त्वोंमें रुचि रखनेवाले सम्यग्दृष्टि पुरुषको [नित्यमपि] सदा ही [अमूढदृष्टित्वम्] मूढतारहित श्रद्धान [कर्तव्यम्] करना चाहिये ।

भावार्थ—[illegible]

[illegible]

१ [illegible]

२ [illegible]

३ [illegible]

परम्परा जैनसिद्धान्तोंके निरूपणपूर्वक [अस्माभिः] हमारेसे [विदुषां] विद्वानोंके अर्थ [अयं] यह [पुरुषार्थसिद्ध्युपायः] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ [उपोद्ध्रियते] उद्धार किया जाता है।

मुख्योपचारविवरण-निरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः ।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्त्तयन्ते जगति तीर्थम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थौ--[मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः] मुख्य और उपचार कथनके प्रगटपनेसे नष्ट किया है शिष्योंका दुर्निवार अज्ञानभाव जिन्होंने तथा [व्यवहारनिश्चयज्ञाः] व्यवहारनय और निश्चयनयके जाननेवाले ऐसे आचार्य [जगति] जगत्में [तीर्थम्] धर्मतीर्थको [प्रवर्त्तयन्ते] प्रवर्त्तते हैं।

भावार्थ—उपदेशदाता आचार्यमें जिन जिन गुणोंकी आवश्यकता है, उन सबमें मुख्य गुण व्यवहार और निश्चयनयका ज्ञान है। क्योंकि जीवोंका अनादि अज्ञानभाव मुख्यकथन और उपचरित-कथनके ज्ञानसे ही दूर होता है, सो मुख्यकथन तो निश्चयनयके अधीन है, और उपचरितकथन व्यवहारनयके अधीन है।

निश्चयनय—'स्वाश्रितो निश्चयः' अर्थात् जो स्वाश्रितें (अपने आश्रयसे) होता है उसे निश्चयनय कहते हैं, और इसीके कथनको मुख्यकथन कहते हैं। इसके जाननेसे शरीरादिक अनादि परद्रव्योंके एकत्वश्रद्धानरूप अज्ञानभावका अभाव होता है, भेदविज्ञानकी प्राप्ति होती है तथा सर्व परद्रव्योंसे भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपका अनुभव होता है, और तब जीव परमानन्ददशामें मग्न होकर केवलदशाकी प्राप्ति करता है। जो अज्ञानी पुरुष इसके जाने विना धर्ममें लवलीन होते हैं, वे शरीरादिक क्रियाकाण्डको उपादेय (ग्रहण करने योग्य) जानकर संसारके कारणभूत शुभोपयोगको ही मुक्तिका कारण मानकर स्वरूपसे भ्रष्ट होकर संसारमें परिभ्रमण करते हैं। इसलिये मुख्य कथनका जानना जो निश्चयनयके अधीन है। निश्चयनयके जाने विना यथार्थ उपदेश भी नहीं हो सकता। जो आप ही अनभिज्ञ है, वह कैसे शिष्यजनोंको समझा सकता है? किसी प्रकार भी नहीं।

व्यवहारनय—"पराश्रितो व्यवहारः" जो परद्रव्यके आश्रित होता है, उसे व्यवहार कहते हैं और पराश्रितरूप कथन उपचारकथन कहलाता है। उपचारकथनका ज्ञाता शरीरादिक सम्बन्धरूप संसार-दशाको जानकर संसारके कारण आस्रव बंधोंका निर्णय कर मुक्ति होनेके उपायरूप संवर निर्जरा तत्त्वोंमें प्रवृत्त होता है। परन्तु जो अज्ञानी जीव इस (व्यवहारनय) को जाने विना शुद्धोपयोगी होनेका प्रयत्न करते हैं, वे पहिले ही व्यवहार साधनको छोड़ पापाचरणमें मग्न हो नरकादि दुःखोंमें जा पड़ते हैं। इसलिये व्यवहारनयका (जिसके आधीन उपचारकथन है) जानना परमावश्यक है। अभिप्राय यह कि इन दोनों नयोंके जाननेवाले उपदेशक ही सच्चे धर्मतीर्थके प्रवर्त्तक होते हैं।

अन्वयार्थौ—[शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने] [illegible] [धर्मे] [illegible] [अहिंसायां] [illegible] [च] [illegible] [सर्वेष्वपि] [illegible] [सधर्मिषु] [illegible] [अनवरतम्] [illegible] [परमं] [illegible] [वात्सल्यम्] [illegible] [आलम्ब्यम्] [illegible] ।

भावार्थ—[illegible]

८ प्रभावना.

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥ ३० ॥

अन्वयार्थौ—[सततम् एव] [illegible] [रत्नत्रयतेजसा] [illegible] [आत्मा] [illegible] [प्रभावनीयः] [illegible] [च] [illegible] [दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैः] [illegible] [जिनधर्मः] [illegible] (प्रभावनीयः) [illegible] ।

भावार्थ—[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ ३१ ॥

परम्परा जैनसिद्धान्तोंके निरूपणपूर्वक [अस्माभिः] हमारेसे [विदुषां] विद्वानोंके अर्थ [अयं] यह [पुरुषार्थसिद्‌ध्युपायः] पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ [उपोद्ध्रियते] उद्धार किया जाता है ।

मुख्योपचारविवरण-निरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः ।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्त्तयन्ते जगति तीर्थम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थौ--[मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः] मुख्य और उपचार कथनके प्रगटपनेसे नष्ट किया है शिष्योंका दुर्निवार अज्ञानभाव जिन्होंने तथा [व्यवहारनिश्चयज्ञाः] व्यवहारनय और निश्चयनयके जाननेवाले ऐसे आचार्य [जगति] जगत्में [तीर्थम्] धर्मतीर्थको [प्रवर्त्तयन्ते] प्रवर्त्ताते हैं ।

भावार्थ—उपदेशदाता आचार्यमें जिन जिन गुणोंकी आवश्यकता है, उन सबमें मुख्य गुण व्यवहार और निश्चयनयका ज्ञान है । क्योंकि जीवोंका अनादि अज्ञानभाव मुख्यकथन और उपचरित-कथनके ज्ञानसे ही दूर होता है, सो मुख्यकथन तो निश्चयनयके अधीन है, और उपचरितकथन व्यवहारनयके अधीन है ।

निश्चयनय—'स्वाश्रितो निश्चयः' अर्थात् जो स्वाश्रित (अपने आश्रयसे) होता है उसे निश्चयनय कहते हैं, और इसीके कथनको मुख्यकथन कहते हैं । इसके जाननेसे शरीरादिक अनादि परद्रव्योंके एकत्वश्रद्धानरूप अज्ञानभावका अभाव होता है, भेदविज्ञानकी प्राप्ति होती है तथा सर्व परद्रव्योंसे भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपका अनुभव होता है, और तब जीव परमानन्ददशामें मग्न होकर केवलदशाकी प्राप्ति करता है । जो अज्ञानी पुरुष इसके जाने विना धर्ममें लवलीन होते हैं, वे शरीरादिक क्रियाकाण्डको उपादेय (ग्रहण करने योग्य) जानकर संसारके कारणभूत शुभोपयोगको ही मुक्तिका कारण मानकर स्वरूपसे भ्रष्ट होकर संसारमें परिभ्रमण करते हैं । इसलिये मुख्य कथनका जानना जो निश्चयनयके अधीन है। निश्चयनयके जाने विना यथार्थ उपदेश भी नहीं हो सकता । जो आप ही अनभिज्ञ है, वह कैसे शिष्यजनोंको समझा सकता है ? किसी प्रकार भी नहीं ।

व्यवहारनय—"पराश्रितो व्यवहारः" जो परद्रव्यके आश्रित होता है, उसे व्यवहार कहते हैं और पराश्रितरूप कथन उपचारकथन कहलाता है। उपचारकथनका ज्ञाता शरीरादिक सम्बन्धरूप संसार-दशाको जानकर संसारके कारण आस्रव बंधोंका निर्णय कर मुक्ति होनेके उपायरूप संवर निर्जरा तत्त्वोंमें प्रवृत्त होता है । परन्तु जो अज्ञानी जीव इस (व्यवहारनय) को जाने विना शुद्धोपयोगी होनेका प्रयत्न करते हैं, वे पहिले ही व्यवहार साधनको छोड़ पापाचरणमें मग्न हो नरकादि दुःखोंमें जा पड़ते हैं। इसलिये व्यवहारनयका (जिसके आधीन उपचारकथन है) जानना परमावश्यक है । अभिप्राय यह कि इन दोनों नयोंके जाननेवाले उपदेशक ही सच्चे धर्मतीर्थके प्रवर्त्तक होते हैं ।

४ **अनुमान**—[illegible] है, [illegible] ।

५ **आगम**—[illegible] है । [illegible] ।

नय

[illegible] नय है । [illegible] द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय ।

द्रव्यार्थिकनय—[illegible] है । इसके ३ भेद हैं । १ नैगम, २ संग्रह और ३ व्यवहार ।

१ **नैगम**—[illegible] है, [illegible] ।

२ **संग्रह**—[illegible] है । [illegible] ।

३ **व्यवहार**—[illegible] है, [illegible] ।

पर्यायार्थिकनय—[illegible] है । इसके ४ भेद हैं १ ऋजुसूत्र, २ शब्द, ३ समभिरूढ़ और ४ एवंभूत [illegible] ।

१ **ऋजुसूत्र**—[illegible] है । [illegible] ।

२ **शब्द**—[illegible] है ।

३ **समभिरूढ़**—[illegible] है, [illegible] है ।

४ **एवंभूत**—[illegible] है, [illegible] ।

अन्वयार्थौ—[मुनीश्वराः] ग्रन्थ करनेवाले आचार्य [अबुधस्य] अज्ञानी जीवोंके [बोधनार्थं] ज्ञान उत्पन्न करनेके लिये [अभूतार्थं] व्यवहारनयको [देशयन्ति] उपदेश करते हैं और [यः] जो जीव [केवलं] केवल [व्यवहारम् एव] व्यवहारनयको ही साध्य [अवैति] जानता है, [तस्य] उस मिथ्यादृष्टिके लिये [देशना] उपदेश [नास्ति] नहीं है।

भावार्थ—अनादिकालके अज्ञानी जीव व्यवहारनयके उपदेश दिये विना समझ नहीं सकते, इस कारण आचार्य उनको व्यवहारनयके मार्गसे ही समझाते हैं। जैसे—किसी मुसलमानको एक ब्राह्मणने आशीर्वाद दिया, परन्तु वह कुछ भी न समझ सका, और उस ब्राह्मणके मुँहकी तरफ देखता रह गया। उसी समय वहाँ एक द्विभाषिया आ गया और उसने समझा दिया कि, 'आपका भला हो' ऐसा ब्राह्मण महाशय कहते हैं। यह सुन मुसलमानने आनन्दित हो उसे अंगीकार किया, ठीक इसी प्रकार अज्ञानी जीवोंको 'आत्मा' ऐसा नाम लेकर उपदेश दिया गया, परन्तु जब अज्ञानी जीव उसको कुछ भी न समझे और आचार्य महाशयके मुँहकी ओर देखने लगे, तब व्यवहार और निश्चयनयके जाननेवाले उन महात्मा आचार्योंने व्यवहारनय द्वारा भेद उत्पन्न कर समझा दिया कि यह जो देखनेवाला, जाननेवाला, और आचरण करनेवाला पदार्थ है, वही आत्मा है'।

घृतसंयुक्त मिट्टीके घड़ेको व्यवहारमें घृतका घड़ा कहते हैं, और कोई पुरुष जन्मसे ही उसे 'घृतका घड़ा' जानता है, यहाँतक कि वह उसे विना 'घृतका घड़ा' कहे समझ ही नहीं सकता, मिट्टीका घड़ा कहनेसे भी नहीं समझ सकता, तथा कोई दूसरा पुरुष उसे कोरे घड़ेके नामसे ही समझता है, परन्तु यथार्थमें विचार किया जावे तो वह घड़ा मिट्टीका ही है, केवल उसे समझानेके लिये ही 'घृतका घड़ा' नाम कहा जाता है, ठीक इस ही प्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्मजनित पर्यायसंयुक्त है, उसे व्यवहारमें देव मनुष्य इत्यादि नाम दिये जाते हैं, क्योंकि अज्ञानी जीव अनादिकालसे देव मनुष्यादि स्वरूप ही जानते हैं। यहाँतक कि वे आत्माको देव मनुष्यादि कहे विना समझ ही नहीं सकते, यदि कोई उन्हें चैतन्यस्वरूप आत्मा कहकर समझावे, तो वे अन्य कोई परब्रह्म परमेश्वर समझ लेवें, और निश्चयपूर्वक विचार किया जावे, तो आत्मा चैतन्यस्वरूप ही है, परन्तु अज्ञानियोंके समझानेके लिए आचार्य गति, जाति, भेदसे जीवका निरूपण करते हैं, सो यही व्यवहारनय है।

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य॥ ७॥

अन्वयार्थौ—[यथा] जैसे [अनवगीतसिंहस्य] सिंहके सर्वथा नहीं जाननेवाले पुरुषको [माणवकः] बिल्ली [एव] ही [सिंहः] सिंहरूप [भवति] होता है, [हि] निश्चय करके [तथा] उसी प्रकार [अनिश्चयज्ञस्य] निश्चयनयके स्वरूपसे अपरिचित पुरुषके लिये [व्यवहारः] व्यवहार [एव] ही [निश्चयतां] निश्चयनयके स्वरूपको [याति] प्राप्त होता है।

कर्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु ।
संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत् ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थौ — [सदनेकान्तात्मकेषु] [illegible] [तत्त्वेषु] [illegible] [अध्यवसायः] [illegible] [कर्तव्यः] [illegible] और [तत्] [illegible] [संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तं] संशय विपर्यय और विमोह रहित [आत्मरूपं] आत्माका निज स्वरूप है ।

भावार्थ — [illegible]

संशय — [illegible]

विपर्यय — [illegible]

विमोह — [illegible]

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च ।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम् ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थौ — [ग्रन्थार्थोभयपूर्णं] [illegible] [काले] [illegible] [विनयेन] [illegible] [च] और [सोपधानं] [illegible] [बहुमानेन] [illegible] [समन्वितम्] [illegible] [अनिह्नवं] [illegible] [ज्ञानम्] [illegible] [आराध्यम्] [illegible] है ।

भावार्थ — [illegible]

१ [illegible]

२ [illegible]

अन्वयार्थौ—[मुनीश्वराः] ग्रन्थ करनेवाले आचार्य [अबुधस्य] अज्ञानी जीवोंके [बोधनार्थं] ज्ञान उत्पन्न करनेके लिये [अभूतार्थं] व्यवहारनयको [देशयन्ति] उपदेश करते हैं और [यः] जो जीव [केवलं] केवल [व्यवहारम् एव] व्यवहारनयको ही साध्य [अवैति] जानता है, [तस्य] उस मिथ्यादृष्टिके लिये [देशना] उपदेश [नास्ति] नहीं है।

भावार्थ—अनादिकालके अज्ञानी जीव व्यवहारनयके उपदेश दिये विना समझ नहीं सकते, इस कारण आचार्य उनको व्यवहारनयके मार्गसे ही समझाते हैं। जैसे—किसी मुसलमानको एक ब्राह्मणने आशीर्वाद दिया, परन्तु वह कुछ भी न समझ सका, और उस ब्राह्मणके मुँहकी तरफ देखता रह गया। उसी समय वहाँ एक द्विभाषिया आ गया और उसने समझा दिया कि, 'आपका भला हो' ऐसा ब्राह्मण महाशय कहते हैं। यह सुन मुसलमानने आनन्दित हो उसे अंगीकार किया, ठीक इसी प्रकार अज्ञानी जीवोंको 'आत्मा' ऐसा नाम लेकर उपदेश दिया गया, परन्तु जब अज्ञानी जीव उसको कुछ भी न समझे और आचार्य महाशयके मुँहकी ओर देखने लगे, तब व्यवहार और निश्चयनयके जाननेवाले उन महात्मा आचार्योंने व्यवहारनय द्वारा भेद उत्पन्न कर समझा दिया कि यह जो देखनेवाला, जाननेवाला, और आचरण करनेवाला पदार्थ है, वही आत्मा है[1]।

घृतसंयुक्त मिट्टीके घड़ेको व्यवहारमें घृतका घड़ा कहते हैं, और कोई पुरुष जन्मसे ही उसे 'घृतका घड़ा' जानता है, यहाँतक कि वह उसे विना 'घृतका घड़ा' कहे समझ ही नहीं सकता, मिट्टीका घड़ा कहनेसे भी नहीं समझ सकता, तथा कोई दूसरा पुरुष उसे कोरे घड़ेके नामसे ही समझता है, परन्तु यथार्थमें विचार किया जावे तो वह घड़ा मिट्टीका ही है, केवल उसे समझानेके लिये ही 'घृतका घड़ा' नाम कहा जाता है, ठीक इस ही प्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्मजनित पर्यायसंयुक्त है, उसे व्यवहारमें देव मनुष्य इत्यादि नाम दिये जाते हैं, क्योंकि अज्ञानी जीव अनादिकालसे देव मनुष्यादि स्वरूप ही जानते हैं। यहाँतक कि वे आत्माको देव मनुष्यादि कहे विना समझ ही नहीं सकते, यदि कोई उन्हें चैतन्यस्वरूप आत्मा कहकर समझावे, तो वे अन्य कोई परब्रह्म परमेश्वर समझ लेवें, और निश्चयपूर्वक विचार किया जावे, तो आत्मा चैतन्यस्वरूप ही है, परन्तु अज्ञानियोंके समझानेके लिए आचार्य गति, जाति, भेदसे जीवका निरूपण करते हैं, सो यही व्यवहारनय है[2]।

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥ ७ ॥

अन्वयार्थौ—[यथा] जैसे [अनवगीतसिंहस्य] सिंहके सर्वथा नहीं जाननेवाले पुरुषको [माणवकः] बिल्ली [एव] ही [सिंहः] सिंहरूप [भवति] होती है, [हि] निश्चय करके [तथा] उसी प्रकार [अनिश्चयज्ञस्य] निश्चयनयके स्वरूपसे अपरिचित पुरुषके लिये [व्यवहारः] व्यवहार [एव] ही [निश्चयतां] निश्चयनयके स्वरूपको [याति] प्राप्त होता है।

१–यह सद्भूतव्यवहारनयका उपदेश है। २–यह असद्भूतव्यवहारनयका उदाहरण है।

न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते ।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थौ—[अज्ञानपूर्वकं चारित्रम्] अज्ञानपूर्वक चारित्र [सम्यग्व्यपदेशं] सम्यक् नामको [न हि] नहीं [लभते] पाता, [तस्मात्] इस कारण [ज्ञानानन्तरम्] सम्यग्ज्ञानके पश्चात् [चारित्राराधनं] चारित्रका आराधन [उक्तं] कहा है ।

भावार्थ—[illegible] नहीं हो सकते ।

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थौ—[यतः] क्योंकि [तत्] वह [चारित्रं] चारित्र [समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्] समस्त पापयुक्त मन, वचन, कायके योगोंके त्यागसे [सकलकषायविमुक्तं] सम्पूर्ण कषायोंसे रहित [विशदम्] निर्मल, [उदासीनम्] पर पदार्थोंसे विरक्ततारूप और [आत्मरूपं] आत्मस्वरूप [भवति] होता है ।

भावार्थ—[illegible]

प्रश्न—[illegible]

उत्तर—[illegible]

प्रश्न—[illegible]

अन्वयार्थौ—[मुनीश्वराः] ग्रन्थ करनेवाले आचार्य [अबुधस्य] अज्ञानी जीवोंके [बोधनार्थं] ज्ञान उत्पन्न करनेके लिये [अभूतार्थं] व्यवहारनयको [देशयन्ति] उपदेश करते हैं और [यः] जो जीव [केवलं] केवल [व्यवहारम् एव] व्यवहारनयको ही साध्य [अवैति] जानता है, [तस्य] उस मिथ्यादृष्टिके लिये [देशना] उपदेश [नास्ति] नहीं है।

भावार्थ—अनादिकालके अज्ञानी जीव व्यवहारनयके उपदेश दिये विना समझ नहीं सकते, इस कारण आचार्य उनको व्यवहारनयके मार्गसे ही समझाते हैं। जैसे—किसी मुसलमानको एक ब्राह्मणने आशीर्वाद दिया, परन्तु वह कुछ भी न समझ सका, और उस ब्राह्मणके मुँहकी तरफ देखता रह गया। उसी समय वहाँ एक द्विभाषिया आ गया और उसने समझा दिया कि, 'आपका भला हो' ऐसा ब्राह्मण महाशय कहते हैं। यह सुन मुसलमानने आनन्दित हो उसे अंगीकार किया, ठीक इसी प्रकार अज्ञानी जीवोंको 'आत्मा' ऐसा नाम लेकर उपदेश दिया गया, परन्तु जब अज्ञानी जीव उसको कुछ भी न समझे और आचार्य महाशयके मुँहकी और देखने लगे, तब व्यवहार और निश्चयनयके जाननेवाले उन महात्मा आचार्योंने व्यवहारनय द्वारा भेद उत्पन्न कर समझा दिया कि यह जो देखनेवाला, जाननेवाला, और आचरण करनेवाला पदार्थ है, वही आत्मा है'।

घृतसंयुक्त मिट्टीके घड़ेको व्यवहारमें घृतका घड़ा कहते हैं, और कोई पुरुष जन्मसे ही उसे 'घृतका घड़ा' जानता है, यहाँतक कि वह उसे विना 'घृतका घड़ा' कहे समझ ही नहीं सकता, मिट्टीका घड़ा कहनेसे भी नहीं समझ सकता, तथा कोई दूसरा पुरुष उसे कोरे घड़ेके नामसे ही समझता है, परन्तु यथार्थमें विचार किया जावे तो वह घड़ा मिट्टीका ही है, केवल उसे समझानेके लिये ही 'घृतका घड़ा' नाम कहा जाता है, ठीक इस ही प्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्मजनित पर्यायसंयुक्त है, उसे व्यवहारमें देव मनुष्य इत्यादि नाम दिये जाते हैं, क्योंकि अज्ञानी जीव अनादिकालसे देव मनुष्यादि स्वरूप ही जानते हैं। यहाँतक कि वे आत्माको देव मनुष्यादि कहे विना समझ ही नहीं सकते, यदि कोई उन्हें चैतन्यस्वरूप आत्मा कहकर समझावे, तो वे अन्य कोई परब्रह्म परमेश्वर समझ लेवें, और निश्चयपूर्वक विचार किया जावे, तो आत्मा चैतन्यस्वरूप ही है, परन्तु अज्ञानियोंके समझानेके लिए आचार्य गति, जाति, भेदसे जीवका निरूपण करते हैं, सो यही व्यवहारनय है।

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥ ७ ॥

अन्वयार्थौ—[यथा] जैसे [अनवगीतसिंहस्य] सिंहके सर्वथा नहीं जाननेवाले पुरुषको [माणवकः] बिल्ली [एव] ही [सिंहः] सिंहरूप [भवति] होती है, [हि] निश्चय करके [तथा] इसी प्रकार [अनिश्चयज्ञस्य] निश्चयनयके स्वरूपसे अपरिचित पुरुषके लिये [व्यवहारः] व्यवहार [एव] ही [निश्चयतां] निश्चयनयके स्वरूपको [याति] प्राप्त होता है।

भावार्थ—जिस पुरुषके मनमें, वचनमें, कायमें, क्रोधादिक कषाय प्रकट होते हैं, उसके शुद्धोपयोगरूप भावप्राणोंका घात तो पहले होता है, क्योंकि कषायके प्रादुर्भावसे भावप्राणका व्यपरोपण होता है, यह प्रथम हिंसा है। पश्चात् यदि कषायकी तीव्रतासे दीर्घ श्वासोच्छ्वाससे, हस्त पादादिकसे वह अपने अंगको कष्ट पहुँचाता है, अथवा आत्मघात कर लेता है, तो उसके द्रव्य प्राणोंका व्यपरोपण होता है, यह दूसरी हिंसा है। फिर उसके कहे हुए मर्मभेदी कुवचनादिकोंसे या हास्यादिसे लक्ष्यपुरुषके अन्तरंगमें पीड़ा होकर उसके भावप्राणोंका व्यपरोपण होता है, यह तीसरी हिंसा है। और अन्तमें इसकी तीव्र कषाय और प्रमादसे लक्ष्यपुरुषको जो शारीरिक छेदन भेदन आदि पीड़ा पहुँचाई जाती है, सो पर-द्रव्यप्राणव्यपरोपण होता है, यह चौथी हिंसा है। सारांश—कषायसे अपने परके भावप्राण व द्रव्य-प्राणका घात करना यह हिंसाका लक्षण है।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थौ—[**खलु**] निश्चय करके [**रागादीनां**] रागादि भावोंका [**अप्रादुर्भावः**] प्रकट न होना [**इति**] यह [**अहिंसा**] अहिंसा [**भवति**] है, और [**तेषामेव**] उन्हीं रागादि भावोंकी [**उत्पत्तिः**] उत्पत्ति होना [**हिंसा**] हिंसा [**भवति**] होती है, [**इति**] ऐसा [**जिनागमस्य**] जैनसिद्धान्तका [**संक्षेपः**] सार है।

भावार्थ—अपने शुद्धोपयोगरूप प्राणका घात रागादिक भावोंसे होता है, अतएव रागादिक भावोंका अभाव ही अहिंसा है, और शुद्धोपयोगरूप प्राणघात होनेसे उन्हीं रागादिक भावोंका सद्भाव हिंसा है। यह [illegible] सिद्धान्त सार है।

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थौ—[**अपि**] और [**युक्ताचरणस्य**] योग्य आचरणवाले [**सतः**] सन्त पुरुषके [**रागाद्यावेशमन्तरेण**] रागादि भावोंके बिना [**प्राणव्यपरोपणात्**] केवल [illegible] [**हिंसा**] हिंसा [**जातु एव**] कदाचित् भी [**न हि**] नहीं [**भवति**] होती।

हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा ।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थौ—[हिंसायाः] हिंसासे [अविरमणं] विरक्त न होना [हिंसा] हिंसा, और [हिंसापरिणमनम्] हिंसारूप परिणमना [अपि] भी [हिंसा] हिंसा [भवति] होती है । [तस्मात्] इसलिये [प्रमत्तयोगे] प्रमादके योगमें [नित्यम्] निरन्तर [प्राणव्यपरोपणं] प्राणघातका सद्भाव है ।

भावार्थ—परजीवके घातरूप हिंसा दो प्रकारकी होती है—पहली अविरमणरूप और दूसरी परिणमनरूप । १–अविरमणरूप हिंसा उसे कहते हैं, जो जीवके परघातमें प्रवृत्त न होनेपर भी हिंसा त्यागकी प्रतिज्ञाके बिना हुआ करती है । क्रियाके बिना ही यह हिंसा क्यों होती है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जिस पुरुषके हिंसाका त्याग नहीं है, वह यद्यपि सोते हुए बिलावकी तरह किसी समय हिंसामें प्रवृत्ति नहीं भी करता, परन्तु उसके अन्तरंगमें हिंसा करनेके भावका सद्भाव है, अतएव वह अविरमणरूप हिंसाका भागी होता है । २–परिणमनरूप हिंसा उसे कहते हैं, जो जीवको परजीवके घातमें मन, वचन, कायसे प्रवृत्त होनेपर होती है । इन दोनों प्रकारकी हिंसाओंमें प्रमादसहित योगका अस्तित्व पाया जाता है, और जबतक प्रमाद पाया जाता है, तबतक हिंसाका अभाव किसी प्रकार नहीं हो सकता क्योंकि प्रमादयोगमें सदाकाल परजीवकी अपेक्षा भी प्राणघातका सद्भाव होता है । अतएव प्रमादके परिहारार्थ पुरुषोंको हिंसाके त्यागमें प्रवर्तित होना चाहिये, जिससे दोनों प्रकारकी हिंसाओंसे बचा रहे ।

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः ।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थौ—[खलु] निश्चयकर [पुंसः] आत्माके [परवस्तुनिबन्धना] पर वस्तुका है कारण जिसमें ऐसी [सूक्ष्महिंसा अपि] सूक्ष्महिंसा भी [न भवति] नहीं होती है, [तदपि] तो भी [परिणामविशुद्धये] परिणामोंकी निर्मलताके लिये [हिंसायतननिवृत्तिः] हिंसाके आयतन परिग्रहादिकोंका त्याग [कार्या] करना उचित है ।

ग्रंथ-प्रारंभः



अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः ।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ॥ १ ॥

अन्वयार्थौ—[**पुरुषः**] पुरुष अर्थात् आत्मा [**चिदात्मा**] चेतनास्वरूप [**अस्ति**] है, [**स्पर्शगन्धरसवर्णैः**] स्पर्श, गंध, रस और वर्णसे [**विवर्जितः**] रहित है, [**गुणपर्ययसमवेतः**] गुण और पर्याय सहित है, तथा [**समुदयव्ययध्रौव्यैः**] उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य करके [**समाहितः**] युक्त है।

भावार्थ—पुर्=उत्तम चैतन्यगुण उनमें जो शेते=स्वामी होकर प्रवृत्ति करे, उसकी **पुरुष**[1] संज्ञा है, अर्थात् दर्शन और ज्ञानरूप चेतनाके नाथको पुरुष कहते हैं। आत्माका यह **अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव** इन तीनों दोषोंसे रहित असाधारण लक्षण है। पदार्थका जो लक्षण कहा जावे, वह किसी किसी लक्ष्यमें तो पाया जावे और किसी किसी लक्ष्यमें नहीं पाया जावे, वह लक्षण **अव्याप्ति** दूषणयुक्त कहा जाता है। इस अव्याप्तिसे रहित, चैतन्यगुणयुक्त आत्माका लक्षण होता है, क्योंकि ऐसा कोई आत्मा नहीं जिसमें चेतना न हो, परन्तु जब आत्माका लक्षण 'रागादि सहित' कहा जावेगा तो इसमें अव्याप्ति दूषणका प्रादुर्भाव होगा, क्योंकि रागादिक यद्यपि समस्त संसारी जीवोंके पाये जाते हैं, परन्तु सिद्ध जीवोंके नहीं हैं। और जो लक्षण लक्ष्यमें भी पाया जावे, उसे अतिव्याप्तियुक्त कहते हैं, आत्माका उक्त लक्षण इस अतिव्याप्ति दूषणसे भी रहित है, क्योंकि, '**चेतनालक्षण**' जीव पदार्थको छोड़कर अन्य किसी भी पदार्थमें संघटित नहीं होता, परन्तु यदि आत्माका लक्षण **अमूर्तीक**[2] (मूर्ति रहित) कहा जावे, तो **अतिव्याप्ति** दूषण आ घेरता है, क्योंकि आत्माका अमूर्तीक गुण धर्म, अधर्म, आकाश, द्रव्योंमें भी पाया जाता है, और जो लक्षण प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाणोंसे लक्ष्यमात्रमें पाया ही नहीं जाता है, उसे **असंभवी** कहते हैं। आत्माका '**चेतनालक्षण**' इस दूषणसे भी रहित है, क्योंकि यह लक्षण जीवमें प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया हुआ है, परंतु आत्माका लक्षण यदि **जड़ सहित** कहा जावे, तो असंभव दोषका आगमन होता है, क्योंकि यह लक्षण प्रत्यक्ष प्रमाणसे वाधित है। इस प्रकार आत्माका **चेतना** लक्षण तीनों दोषोंसे रहित है। चेतना दो प्रकारकी है, एक **ज्ञानचेतना** और दूसरी **दर्शनचेतना** जो चेतना पदार्थोंको विशेषतासे साकाररूप प्रदर्शित करे, अर्थात् जाने, उसे **ज्ञानचेतना** और जो सामान्यरूपसे निराकाररूप प्रदर्शित करे, उसे **दर्शनचेतना** कहते हैं। फिर यही चेतना परिणमनकी अपेक्षा तीन प्रकार है—एक **ज्ञानचेतना** जो कि शुद्धज्ञान स्वभावरूप परिणमन करती है, दूसरी **कर्मचेतना** जो कि रागादि कार्यरूप परिणमन करती है, और तीसरी **कर्मफलचेतना** जो कि सुख दुःखादि भोगनेरूप परिणमन करती है। उक्त प्रकारसे चेतनाके अनेक स्वांग होते हैं, परन्तु चेतनाका अभाव कहीं भी नहीं होता, इसी चेतना लक्षणसे विराजमान जीव संज्ञक पदार्थका नाम पुरुष है! '**स्पर्शरसगंधवर्णैः विवर्जितः**'—

१-पुरि शेते इति पुरुषः। २-धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य भी अमूर्तीक है।

भावार्थ—कोई पुरुष स्वयं हिंसा तो थोड़ी कर सकता है, परन्तु अपने परिणामोंको हिंसाभावमें अधिक लिप्त रखते हैं, वह तीव्र कर्मबंधका भागी होता और जो पुरुष परिणामोंमें हिंसाके अधिक भाव न रखकर मात्र हिंसा अचानक रूपसे कर गया है, वह मन्द कर्मबंधका भागी होगा ।

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य ।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥ ५३ ॥

अन्वयार्थौ—[सहकारिणोः अपि हिंसा] एकसाथ मिलकर की हुई भी हिंसा [फलकाले] उदयकालमें [वैचित्र्यम्] विचित्रताको [व्रजति] प्राप्त होती है, और किसीको [सा एव] वही हिंसा [तीव्रं] तीव्र [फलं] फल [दिशति] दिखलाती है और किसीको [सा एव] वही [हिंसा] हिंसा [मन्दम्] न्यून फल ।

भावार्थ—यदि दो पुरुष मिलकर कोई हिंसा करें, तो उनमेंसे जिसके तीव्र परिणाम हुए हों, उसे हिंसाका फल अधिक भोगना पड़ेगा, और जिसके परिणाम मन्द कषायरूप हुए हों उसे न्यून फल भोगना पड़ेगा ।

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृतापि ।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥ ५४ ॥

अन्वयार्थौ—[हिंसा] कोई हिंसा [प्राक् एव] पहिले ही [फलति] फल जाती है, कोई [क्रियमाणा] करते करते [फलति] फलती है, कोई [कृता अपि] कर चुकनेपर भी [फलति] फलती है, [च] और कोई [कर्तुम् आरभ्य] हिंसा करनेका आरंभ करके [अकृता अपि] न करनेपर भी [फलति] फल देती है । इसी कारणसे [हिंसा] हिंसा [अनुभावेन] कषायभावोंके अनुसार ही [फलति] फल देती है ।

भावार्थ—किसीने हिंसा करनेका विचार किया, परन्तु [illegible]

इनका (परिणामोंका) चैतन्यमय होनेसे व (आत्माके साथ) व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध होनेसे आत्मा ही कर्त्ता है, और भाव्यभावक भावसे आत्मा ही भोक्ता है।

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः॥ ११॥

अन्वयार्थौ—[**यदा**] जिस समय [**सः**] उपर्युक्त अशुद्ध आत्मा [**सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं**] सम्पूर्ण विभावोंसे उत्तीर्ण होकर [**अचलम्**] अपने निष्कम्प [**चैतन्यम्**] चैतन्य स्वरूपको [**आप्नोति**] प्राप्त होता है, [**तदा**] तब 'यह आत्मा' वह [**सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिं**] भले प्रकार पुरुषार्थके प्रयोजनकी सिद्धिको [**आपन्नः 'सन्'**] प्राप्त होता हुआ [**कृतकृत्यः**] कृतकृत्य [**भवति**] होता है।

भावार्थ—जब आत्मा **स्वपरभेदविज्ञानसे** शरीरादिक परद्रव्योंको पृथक् जानने लगता है, तब उन द्रव्योंमें 'यह भला' और 'यह बुरा' ऐसी बुद्धिका परित्याग करता है, क्योंकि भला बुरा अपने परिणामोंसे होता है, परद्रव्योंके करनेसे नहीं होता, और जब समस्त परद्रव्योंमें राग-द्वेष भावोंका त्याग करनेपर भी रागादिकोंकी उत्पत्ति होती है, तब उनके शमन करनेके लिये अनुभवके अभ्यासमें उद्यमवान् रहता है और ऐसा होनेसे जिस समय सर्व विभावभावोंका नाश कर अक्षोभ समुद्रवत् शुद्धात्मस्वरूपमें लवणवत् लवलीन हो जाता है, तब **ध्याता और ध्येयका** विकल्प नहीं रहता, और ऐसा नहीं जानता है कि मैं शुद्धात्मस्वरूपका ध्यान करता हूँ, किन्तु आप ही तादात्म्यवृत्तिसे शुद्धात्मस्वरूप होकर निष्कम्प परिणमन करता है। उस समय आत्मा कृतकृत्य कहलाता है, क्योंकि उसे जो कुछ करना था सब कर चुका, कुछ भी अवशेष नहीं रहा। इस ही अवस्थाको पुरुषार्थसिद्धि कहते हैं क्योंकि इसमें पुरुषके आत्माके अर्थ (कार्य)की सिद्धि हो जाती है।

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन॥ १२॥

अन्वयार्थौ—[**जीवकृतं**] जीवके किये हुए [**परिणामं**] रागादिक परिणामोंको [**निमित्तमात्रं**] निमित्तमात्र [**प्रपद्य**] पा करके [**पुनः**] फिर [**अन्ये पुद्गलाः**] जीवसे भिन्न अन्य पुद्गलस्कन्ध वे [**अत्र**] आत्मामें [**स्वयमेव**] स्वतः ही [**कर्मभावेन**] ज्ञानावरणादि कर्मरूप [**परिणमन्ते**] परिणमन करते हैं।

भावार्थ—जिस समय जीव, राग-द्वेष-मोहभावरूप परिणमन करता है, उस समय उन भावोंका

१—साहचर्यके नियमको व्याप्ति कहते हैं, जैसे, धूम और अग्निमें साहचर्य (सहचारीपना) पाया जाता है। जहां धूम हो वहां अग्नि अवश्य होती है, क्योंकि धूमकी उत्पत्ति अग्निसे ही है, ठीक इस ही प्रकार आत्मा और रागादिक परिणामोंमें साहचर्य पाया जाता है, क्योंकि जहां रागादिक होते हैं, वहां आत्मा अवश्य होता है, कारण आत्माके ही रागादिक होते हैं, अथच इस व्याप्तिकी क्रियामें कर्म व्याप्य और कर्त्ता व्यापक है। ये रागादिक भाव आत्माके करनेमें होते हैं, इसलिये वे **व्याप्य** और उनका कर्त्ता **आत्मा** है, इसलिये वह **व्यापक** हुआ। २—व्याप्य व्यापक सम्बन्ध जहां पाया जाता है, वहां ही कार्य-कारण सम्बन्ध संभाव्य होता है। ३—अनुभवन करने योग्य भावको **भाव्य** और अनुभवन करनेवाले पदार्थको **भावक** कहते हैं। ४—यह भाव्य-भावक सम्बन्ध जहां घटित हो, वहां भोक्तृ-भोक्तासम्बन्ध घटित होता है अन्यत्र नहीं। ५—कारणमात्र। ६—बहुत परमाणुओंसे बना हुआ अर्थात् कर्मवर्गणा।

अन्वयार्थौ—[इति] इस प्रकार [सुदुस्तरे] अत्यन्त कठिनाईसे पार किये जानेवाले और [विविधभङ्गगहने] नाना भंगोंसे गहन वनमें [मार्गमूढदृष्टीनाम्] मार्गमूढदृष्टी पुरुषोंको अर्थात् मार्ग भूले हुए पुरुषोंको [प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः] अनेक प्रकारके नय समूहको जाननेवाले [गुरवः] श्रीगुरु ही [शरणं] शरण [भवन्ति] होते हैं ।

भावार्थ—हिंसाके अनेक भेदोंको वे ही गुरु समझा सकते हैं, जो नयचक्रके अच्छे ज्ञाता हैं ।

अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम् ।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥ ५९ ॥

अन्वयार्थौ—[जिनवरस्य] जिनेन्द्रभगवान्‌का [अत्यन्तनिशितधारं] अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाला और [दुरासदं] दुस्साध्य [नयचक्रम्] नयचक्र [धार्यमाणं] धारण किया हुआ [दुर्विदग्धानाम्] मिथ्याज्ञानी पुरुषोंके [मूर्धानं] मस्तकको [झटिति] शीघ्र ही [खण्डयति] खंड खंड कर देता है ।

भावार्थ—जैनमतके नयभेद समझना बहुत कठिन है, जो मूढ़पुरुष बिना समझे नयचक्रमें प्रवेश करते हैं, वे लाभके बदले हानि उठाते हैं ।

अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन ।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥ ६० ॥

अन्वयार्थौ—[नित्यम्] निरन्तर [अवगूहमानैः] संवरमें उद्यमवान् पुरुषोंको [तत्त्वेन] यथार्थतासे [हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि] हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाके फलोंको [अवबुध्य] जानकर [निजशक्त्या] अपनी शक्तिके अनुसार [हिंसा] हिंसा [त्यज्यतां] छोड़ना चाहिये ।

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थौ—[हिंसाव्युपरतिकामैः] हिंसा त्याग करनेकी कामनावाले पुरुषोंको [प्रथममेव] प्रथम ही [यत्नेन] यत्नपूर्वक [मद्यं] शराब, [मांसं] मांस, [क्षौद्रं] शहद और [पञ्चोदुम्बरफलानि] ऊमर, कठूमर, पीपल, बड़, पाकर के पाँचों उदुम्बर फल [मोक्तव्यानि] छोड़ देने चाहिये ।

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम् ।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥ ६२ ॥

[युक्तः इव] संयुक्त सरीखा [प्रतिभाति] प्रतिभासित होता है, और [सः प्रतिभासः] वह प्रतिभास ही [खलु] निश्चय करके [भवबीजम्] संसारका बीजभूत है ।

भावार्थ—पहले कहा गया है कि रागादिक भाव पुद्गलकर्मको कारणभूत हैं और पुद्गलकर्म रागादिक भावोंको कारणभूत है । इससे यह आत्मा निज स्वभावभावोंकी अपेक्षा नाना प्रकारके कर्मजनित भावोंसे पृथक् ही चैतन्यमात्र वस्तु है । जैसे लाल रंगके निमित्तसे स्फटिकमणि लालरूप दिखलाई देता है, यथार्थमें लालस्वरूप नहीं है । रक्तत्व तो स्फटिकसे अलिप्त ऊपर ही ऊपरकी झलकमात्र है । और स्फटिक स्वच्छ श्वेतवर्णपनेसे शोभायमान है । इस बातको परीक्षक जौहरी अच्छी तरहसे जानता है । परन्तु जो रत्न-परीक्षाकी कलासे अनभिज्ञ है, वह स्फटिकको रक्तमणि व रक्त स्वरूप ही देखता है । इसी प्रकार कर्मके निमित्तसे आत्मा रागादिकरूप परिणमन करता है, परन्तु यथार्थमें रागादिक आत्माके निज भाव नहीं है । आत्मा अपने स्वच्छतारूप चैतन्यगुणसहित विराजमान है । रागादिकपन तो स्वरूपसे विभिन्न ऊपर ही ऊपरकी झलकमात्र है । इस बातको स्वरूपके परीक्षक सच्चे ज्ञानी भलीभाँति जानते है, परन्तु अज्ञानी अपरीक्षकोंको आत्मा रागादिक रूप ही प्रतिभासित होता है । यहाँपर यदि कोई प्रश्न करे कि पहिले जो रागादिक भाव जीवकृत कहे गये थें, उन्हें अब कर्मकृत क्यों कहते हो ? तो इसका समाधान यह है कि रागादिक भाव चेतनारूप हैं, इसलिये इनका कर्ता जीव ही है, परन्तु श्रद्धान करानेके लिये इस स्थलपर मूलभूत जीवके शुद्ध स्वभावकी अपेक्षा रागादिक भाव कर्मके निमित्तसे होते हैं, अतएव कर्मकृत हैं । जैसे भूतगृहीत मनुष्य भूतके निमित्तसे नाना प्रकारकी जो विपरीत चेष्टायें करता है, उनका कर्ता यदि शोधा जावे तो वह मनुष्य ही निकलेगा, परन्तु वे विपरीत चेष्टायें उस मनुष्यके निजभाव नहीं हैं, भूतकृत हैं । इसी प्रकार यह जीव कर्मके निमित्तसे जो नाना प्रकार विपरीत भावरूप परिणमन करता है उन (भावों)का कर्त्ता यद्यपि जीव ही है परन्तु ये भाव जीवके निजस्वभाव न होनेसे कर्मकृत कहे जाते हैं, अथवा कर्मकृत नाना प्रकारकी पर्य्याय, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, कर्म्म, नोकर्म्म, देव, नारकी, मनुष्य, तिर्य्यञ्च, शरीर, संहनन, संस्थानादिक भेद व पुत्र मित्रादि धन धान्यादि भेदोंसे शुद्धात्मा प्रत्यक्ष ही भिन्न है । इसके अतिरिक्त और भी सुनिये—

एक मनुष्य अज्ञानी गुरुके उपदेशसे छोटेसे भोंहरेमें बैठकर भैंसेका ध्यान करने लगा, और अपनेको भैंसा मानकर दीर्घ शरीरके चितवनमें आकाशपर्यन्त सींगोंवाला मानने लगा, तब इस चिन्तामें पड़ा कि भोंहरेमेंसे मेरा इतना बड़ा शरीर किस प्रकार निकल सकेगा ? ठीक यही दशा जीवकी मोहके निमित्तसे हो रही है, जो आपको वर्णादि स्वरूप मानके देवादिक पर्य्यायोंमें आपा मानता है । भैंसा माननेवाला यदि अपनेको भैंसा न माने, तो आखिर मनुष्य बना ही है, इसी प्रकार देवादिक पर्य्यायोंको भी जीव यदि आपा न माने तो अमूर्तीक शुद्धात्मा आप बना ही है । सारांश आत्मा कर्मजनित रागादिक अथवा वर्णादिक भावोंसे सदाकाल भिन्न है. तदुक्तम्—"वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः"

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम् ।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥ १५ ॥

अर्थात् इस मांसके भक्षणमें भी [तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्] उस मांसके आश्रित रहनेवाले उसी जातिके निगोद जीवोंके मथनसे [हिंसा] हिंसा [भवति] होती है।

भावार्थ—जीवके शरीरके पिंड जीवका मांस है, उसमें उसीके सदृश सूक्ष्म साधारण जीव उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिये मांसके खानेमें उन सूक्ष्म जीवोंका घात होनेसे हिंसा होती ही है।

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु ।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थौ—[आमासु] बिना पकी, [पक्वासु] पकी हुई, [अपि] तथा [विपच्यमानासु] पकती हुई [अपि] भी [मांसपेशीषु] मांसकी डलियोंमें [तज्जातीनां] उसी जातिके [निगोतानाम्] सम्मूर्छन जीवोंका [सातत्येन] निरन्तर ही [उत्पादः] उत्पाद होता रहता है।

भावार्थ—मांसकी डलियोंमें सदैव समयसमयमें उस ही जीवके सदृश अनन्त जीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है।

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम् ।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थौ—[यः] जो जीव [आमां] कच्ची [वा] अथवा [पक्वां] अग्निमें पकी हुई [पिशितपेशीम्] मांसकी डलीको [खादति] भक्षण करता है [वा] अथवा [स्पृशति] छूता है [सः] वह पुरुष [सततनिचितं] निरन्तर एकत्रित किये हुए [बहुजीवकोटीनाम्] अनेक जातिके जीवसमूहके [पिण्डं] पिंडको [निहन्ति] हनता है।

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके ।
भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम् ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थौ—[लोके] इस लोकमें [मधुशकलम् अपि] मधुका कण भी [प्रायः] बहुधा [मधुकरहिंसात्मकं] मक्खियोंकी हिंसारूप [भवति] होता है, इसलिये [यः] जो [मूढधीकः] मूर्खबुद्धि पुरुष [मधु] शहदको [भजति] भक्षण करता है, [सः] वह [अत्यन्तम् हिंसकः] अत्यन्त हिंसा करनेवाला होता है।

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात् ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ॥ ७० ॥

[युक्तः इव] संयुक्त सरीखा [प्रतिभाति] प्रतिभासित होता है, और [सः प्रतिभासः] वह प्रतिभास ही [खलु] निश्चय करके [भवबीजम्] संसारका बीजभूत है ।

भावार्थ—पहले कहा गया है कि रागादिक भाव पुद्गलकर्मको कारणभूत हैं और पुद्गलकर्म रागादिक भावोंको कारणभूत है । इससे यह आत्मा निज स्वभावभावोंकी अपेक्षा नाना प्रकारके कर्मजनित भावोंसे पृथक् ही चैतन्यमात्र वस्तु है । जैसे लाल रंगके निमित्तसे स्फटिकमणि लालरूप दिखलाई देता है, यथार्थमें लालस्वरूप नहीं है । रक्तत्व तो स्फटिकसे अलिप्त ऊपर ही ऊपरकी झलकमात्र है । और स्फटिक स्वच्छ श्वेतवर्णपनेसे शोभायमान है । इस बातको परीक्षक जौहरी अच्छी तरहसे जानता है । परन्तु जो रत्न-परीक्षाकी कलासे अनभिज्ञ है, वह स्फटिकको रक्तमणि व रक्त स्वरूप ही देखता है । इसी प्रकार कर्मके निमित्तसे आत्मा रागादिकरूप परिणमन करता है, परन्तु यथार्थमें रागादिक आत्माके निज भाव नहीं है । आत्मा अपने स्वच्छतारूप चैतन्यगुणसहित विराजमान है । रागादिकपन तो स्वरूपसे विभिन्न ऊपर ही ऊपरकी झलकमात्र है । इस बातको स्वरूपके परीक्षक सच्चे ज्ञानी भलीभाँति जानते है, परन्तु अज्ञानी अपरीक्षकोंको आत्मा रागादिक रूप ही प्रतिभासित होता है । यहाँपर यदि कोई प्रश्न करे कि पहिले जो रागादिक भाव जीवकृत कहे गये थें, उन्हें अब कर्मकृत क्यों कहते हो ? तो इसका समाधान यह है कि रागादिक भाव चेतनारूप हैं, इसलिये इनका कर्ता जीव ही है, परन्तु श्रद्धान करानेके लिये इस स्थलपर मूलभूत जीवके शुद्ध स्वभावकी अपेक्षा रागादिक भाव कर्मके निमित्तसे होते हैं, अतएव कर्मकृत हैं । जैसे भूतगृहीत मनुष्य भूतके निमित्तसे नाना प्रकारकी जो विपरीत चेष्टायें करता है, उनका कर्ता यदि शोधा जावे तो वह मनुष्य ही निकलेगा, परन्तु वे विपरीत चेष्टायें उस मनुष्यके निजभाव नहीं हैं, भूतकृत हैं । इसी प्रकार यह जीव कर्मके निमित्तसे जो नाना प्रकार विपरीत भावरूप परिणमन करता है उन (भावों) का कर्ता यद्यपि जीव ही है परन्तु ये भाव जीवके निजस्वभाव न होनेसे कर्मकृत कहे जाते हैं, अथवा कर्मकृत नाना प्रकारकी पर्य्याय, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, कर्म्म, नोकर्म्म, देव, नारकी, मनुष्य, तिर्य्यञ्च, शरीर, संहनन, संस्थानादिक भेद व पुत्र मित्रादि धन धान्यादि भेदोंसे शुद्धात्मा प्रत्यक्ष ही भिन्न है । इसके अतिरिक्त और भी सुनिये—

एक मनुष्य अज्ञानी गुरुके उपदेशसे छोटेसे भोंहरेमें बैठकर भैंसेका ध्यान करने लगा, और अपनेको भैंसा मानकर दीर्घ शरीरके चिंतवनमें आकाशपर्यन्त सींगोंवाला मानने लगा, तब इस चिन्तामें पड़ा कि भोंहरेमेंसे मेरा इतना बड़ा शरीर किस प्रकार निकल सकेगा ? ठीक यही दशा जीवकी मोहके निमित्तसे हो रही है, जो आपको वर्णादि स्वरूप मानके देवादिक पर्य्यायोंमें आपा मानता है । भैंसा माननेवाला यदि अपनेको भैंसा न माने, तो आखिर मनुष्य बना ही है, इसी प्रकार देवादिक पर्य्यायोंको भी जीव यदि आपा न माने तो अमूर्तीक शुद्धात्मा आप बना ही है । सारांश आत्मा कर्मजनित रागादिक अथवा वर्णादिक भावोंसे सदाकाल भिन्न है, तदुक्तम्—"वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः"[1]

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम् ।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥ १५ ॥

१—इस पुरुषके अर्थात् आत्माके वर्णादि रागादि अथवा मोहादि सर्व ही भाव (आत्मासे) भिन्न हैं ।

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थौ—[अनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि] दुःखदायक दुस्तर और पापोंके स्थान [अमूनि] इन [अष्टौ] आठ पदार्थोंको [परिवर्ज्य] परित्याग करके [शुद्धधियः] निर्मल बुद्धिवाले पुरुष [जिनधर्मदेशनायाः] जिनधर्मके उपदेशके [पात्राणि] पात्र [भवन्ति] होते हैं ।

भावार्थ—मद्य, मांस, मधु और पांच उदम्बर फल ये आठों पदार्थ महा पापके कारण हैं, इस कारण इनका त्याग करनेवाला ही पुरुष जिनधर्मके उपदेशके सुननेका योग्य पात्र होता है, अर्थात् इनके त्यागके बिना श्रावक नहीं हो सकता, इसी कारण इनको आचार्योंने मूलगुण माना है ।

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम् ।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थौ—[ये] जो जीव [अहिंसारूपं] अहिंसारूप [धर्मं] धर्मको [संशृण्वन्तः अपि] भले प्रकार श्रवण करके भी [स्थावरहिंसाम्] स्थावर जीवोंकी हिंसा [परित्यक्तुम्] छोड़नेको [असहाः] असमर्थ हैं [ते अपि] वे भी [त्रसहिंसां] त्रस जीवोंकी हिंसाको [मुञ्चन्तु] छोड़ें ।

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा ।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थौ—[औत्सर्गिकी निवृत्तिः] उत्सर्गरूप निवृत्ति अर्थात् सामान्य त्याग [कृतकारितानुमननैः] कृत कारित अनुमोदनारूप [वाक्कायमनोभिः] मन वचन कायकरके [नवधा] नव प्रकार [इष्यते] मानी है, [तु] और [एषा] यह [अपवादिकी] अपवादरूप निवृत्ति [विचित्ररूपा] अनेकरूप है ।

भावार्थ—[illegible]

स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम् ।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थौ—[सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्] [illegible] [गृहिणाम्] गृहस्थोंको [स्तोकैकेन्द्रियघातात्] [illegible] [शेषस्थावरमारणविरमणम् अपि] [illegible] [करणीयम्] करने योग्य [भवति] होता है ।

अन्वयार्थौ—[यः] जो [अल्पमतिः] तुच्छ बुद्धि उपदेशक [यतिधर्मम्] मुनिधर्मको [अकथयन्] नहीं कह करके [गृहस्थधर्मम्] श्रावक-धर्मका [उपदिशति] उपदेश देता है, [तस्य] उस उपदेशको [भगवत्प्रवचने] भगवतके सिद्धान्तमें [निग्रहस्थानम्] दंड देनेका स्थान [प्रदर्शितं] दिखलाया है ।

भावार्थ—जो उपदेशदाता पहिले मुनि-धर्मको न सुनाकर श्रावक-धर्मका व्याख्यान देता है, उसको जिनमतमें प्रायश्चित्तरूप दंड देने योग्य बतलाया है । क्योंकि—

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः ।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥ १९ ॥

अन्वयार्थौ—[यतः] जिस कारणसे [तेन] उस [दुर्मतिना] दुर्बुद्धिके [अक्रमकथनेन] क्रमभंग कथनरूप उपदेश करनेसे [अतिदूरम्] अत्यन्त दूरतक [प्रोत्सहमानोऽपि] उत्साहवाला हुआ भी [शिष्यः] शिष्य [अपदे अपि] तुच्छ स्थानमें ही [संप्रतृप्तः] संतुष्ट होकर [प्रतारितः] प्रतारित या ठगाया हुआ [भवति] होता है ।

भावार्थ—किसी शिष्यको धर्मका इतना उत्साह था कि यदि उसे मुनि-धर्मका उपदेश मिलता तो मुनिपदवी अंगीकार कर लेता । परन्तु उपदेशदाता उसे पहिले ही श्रावक-धर्मका उपदेश देने लगा, तो ऐसे समयमें वह श्रावक-धर्म ही ग्रहण करनेमें संतुष्ट हो गया। सारांश पहिले मुनि-धर्मका उपदेश करना चाहिए।

श्रावकधर्मव्याख्यान



एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम् ।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति ॥ २० ॥

अन्वयार्थौ—[एवं] इस प्रकार [तस्यापि] उस गृहस्थको भी [यथाशक्ति] अपनी शक्तिके अनुसार [सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मकः] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र इन तीन भेदरूप [मोक्षमार्गः] मुक्तिका मार्ग [नित्यम्] सर्वदा [निषेव्यः] सेवन करने योग्य [भवति] होता है ।

भावार्थ—मुनि तो मोक्षमार्गका सेवन पूर्णरूपसे करते ही हैं । किन्तु गृहस्थको भी यथाशक्ति (थोड़ा बहुत) सेवन करना चाहिये ।

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन ।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥ २१ ॥

[illegible]

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम् ।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थौ—[हि] निश्चय करके [धर्मः] धर्म [देवताभ्यः] देवताओंसे [प्रभवति] उत्पन्न होता है । अतएव [इह] इस लोकमें [ताभ्यः] उनके लिये [सर्वं] सब ही [प्रदेयम्] दे देना योग्य है [इति दुर्विवेककलितां] इस प्रकार अविवेकसे ग्रसित [धिषणां] बुद्धिको [प्राप्य] पाकर [देहिनः] शरीरधारी जीव [न हिंस्याः] नहीं मारने चाहिये ।

भावार्थ—[illegible]

पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति ।
इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम् ॥ ८० ॥

अन्वयार्थौ—[पूज्यनिमित्तं] [illegible] [छागादीनां] [illegible] [घाते] [illegible] [कः अपि] [illegible] [दोषः] [illegible] [नास्ति] [illegible] [इति] [illegible] [संप्रधार्य] [illegible] [अतिथये] [illegible] [सत्त्वसंज्ञपनम्] [illegible] [न कार्यं] [illegible]

भावार्थ—[illegible]

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम् ।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु ॥ ८१ ॥

(३) मिश्रजीव—जिन जीवोंके सम्यक्त्वादि गुण कुछ विमलरूप हुए हों और कुछ समल हों, अर्थात् ज्ञानादि गुणोंकी कुछ शक्तियाँ शुद्ध हुई हों अवशेष सर्व अशुद्ध हों और परिणति जिनकी शुद्ध परिणमन करती हो, उन्हें मिश्रजीव कहते हैं ।

२–अजीवतत्त्व—जो पदार्थ चैतन्यगुणरहित हो, उसे अजीव कहते हैं । इसके पाँच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ।

(१) पुद्गल—जो द्रव्य स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इन चार गुणोंसे संयुक्त हो उसे पुद्गल कहते हैं। इसके दो भेद हैं—अणु और स्कन्ध । एकाकी अविभागी परमाणुको **अणु** और अनेक अणुओंके एकत्वपरिणामको **स्कन्ध** कहते हैं । पुद्गलद्रव्यके अणु और स्कन्धोंके सिवाय १ स्थूलस्थूल, २ स्थूल, ३ स्थूलसूक्ष्म, ४ सूक्ष्मस्थूल, ५ सूक्ष्म, और ६ सूक्ष्मसूक्ष्म ये छह भेद और भी है । **स्थूलस्थूल**—जो काष्ट पाषाणादिकोंके समान छेदे भेदे जा सकें, **स्थूल**—जो जल दुग्धादि द्रव पदार्थोंके समान छिन्न भिन्न होनेपर पुनः मिल सकें, **स्थूलसूक्ष्म**—जो आतप चाँदनी छायादि पर्यायके समान दृष्टिगत होवें, परन्तु पकड़े न जा सकें, **सूक्ष्मस्थूल**—जो शब्द गंधादिके समान दिखाई न देवें, और पकड़े न जा सकें, **सूक्ष्मस्थूल**—जो शब्द गंधादिके समान दिखाई न देवें, परन्तु श्रवण नासिकादि अन्य इन्द्रियोंसे ग्रहण किये जा सकें, **सूक्ष्म**—जो कार्म्माणवर्गणादिक वहुत परमाणुओंके स्कन्ध हों, और **सूक्ष्मसूक्ष्म**—अविभागी परमाणुओंको कहते हैं ।

(२) धर्म—जो द्रव्य जीव और पुद्गलकी गतिमें सहकारी हो उसे धर्मद्रव्य कहते हैं । यह लोकप्रमाण अमूर्त्तीक एकद्रव्य है ।

(३) अधर्म—जो द्रव्य जीव और पुद्गलकी स्थितिमें सहकारी हो, उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं । यह भी लोकप्रमाण अमूर्त्तीक एकद्रव्य है ।

(४) आकाश—जो द्रव्य जीवादिक समस्त पदार्थोंको अवकाश देनेमें समर्थ हो, उसे आकाश कहते हैं । इसके **लोकाकाश** और **अलोकाकाश** ये दो भेद हैं । जिसमें सम्पूर्ण द्रव्यैं पाये जावें, उसे लोकाकाश कहते हैं. और जहाँ केवल आकाश पाया जावे उसे अलोकाकाश कहते है । इन दोनोंका सत्त्व पृथक् पृथक् नहीं है, एक ही द्रव्य है ।

(५) काल—जो द्रव्य सम्पूर्ण द्रव्योंके परिवर्तन करनेमें समर्थ है और जो वर्तनाहेतुत्व लक्षणसे संयुक्त हो, उसे कालद्रव्य कहते हैं । यह लोकके एक एक प्रदेशपर स्थित एक एक अणुमात्र असंख्यात द्रव्य हैं । कालद्रव्यके परिणमन निमित्तसे **आवलिकादि** व्यवहारकाल होता है ।

३. आस्रवतत्त्व—जीवके रागादिक परिणामोंसे मन, वचन, कायके योगोंद्वारा पुद्गलस्कन्धोंके आनेको आस्रव कहते हैं ।

भावार्थ—[illegible]

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव ।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः ॥ ८५ ॥

अन्वयार्थौ—[सुखावाप्तिः] सुखकी प्राप्ति [कृच्छ्रेण] कठिनतासे होती है, इसलिये [हताः] मारे हुए [सुखिनः] सुखी जीव [सुखिनः एव] सुखी ही [भवन्ति] होवेंगे [इति] इस प्रकार [तर्कमण्डलाग्रः] कुतर्कका खड्ग [सुखिनां घाताय] सुखियोंके घातके लिये [नादेयः] अंगीकार नहीं करना चाहिये ।

भावार्थ—[illegible]

उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात् ।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्तनीयं सुधर्ममभिलषिता ॥ ८६ ॥

अन्वयार्थौ—[सुधर्मम् अभिलषिता] [illegible] [शिष्येण] [illegible] [भूयसः अभ्यासात्] [illegible] [उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य] [illegible] [स्वगुरोः] [illegible] [शिरः] [illegible] [न कर्तनीयं] [illegible]

भावार्थ—[illegible]

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम् ।
झटितिघटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम् ॥ ८७ ॥

तो अभाव है परन्तु अतिव्याप्तिदूषण अवश्य आता है क्योंकि द्रव्यलिंगी मुनि जिनप्रणीत तत्त्वोंको ही मानते हैं, अन्यमत कल्पित तत्त्वोंको नहीं मानते, लक्षण ऐसा कहना चाहिये, जो लक्ष्यके विना अन्य स्थानपर न पाया जावे' इसका समाधान इस प्रकार है कि :—

द्रव्यलिंगी मुनि जिनप्रणीत तत्त्वोंको ही मानते हैं परन्तु विपरीताभिनिवेशसंयुक्त शरीराश्रित क्रियाकांडको अपना जानते हैं, (यहाँ अजीव तत्त्वमें जीवत्व श्रद्धान हुआ) और आस्रव बंध रूप शील संयमादि परिणामोंको संवर निर्जरारूप मानते हैं। वे यद्यपि पापसे विरक्त हुए हैं, परन्तु पुण्यमें उपादेय बुद्धि रखते हैं, अतएव उनके तत्त्वार्थका यथार्थ श्रद्धान नहीं हुआ।

सम्यक्त्वके आठ अंगोंका वर्णन।

१. [1]निःशङ्कित.

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शङ्केति कर्त्तव्या॥ २३॥

अन्वयार्थौ—[अखिलज्ञैः] सर्वज्ञदेवद्वारा [उक्तं] कहा हुआ [इदम्] यह [सकलम्] सारा [वस्तुजातम्] वस्तुसमूह [अनेकान्तात्मकम्] अनेक स्वभावरूप [उक्तं] कहा गया है सो [किमु-सत्यम्] क्या सत्य है? [वा असत्यं] या झूठ है? [इति] ऐसी [शंका] शंका [जातु] कदाचित् भी [न] नहीं [कर्त्तव्या] करनी चाहिये।

भावार्थ—जिनप्रणीत पदार्थोंमें सन्देह नहीं करना चाहिये क्योंकि जिनभगवान् अन्यथावादी नहीं होते, इसको निःशङ्कित अंग कहते हैं।

२. [2]निःकाङ्क्षित

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकाङ्क्षेत्॥ २४॥

अन्वयार्थौ—[इह] इस [जन्मनि] लोकमें [विभवादीनि] ऐश्वर्य्य सम्पदा आदिको [अमुत्र] परलोकमें [चक्रित्वकेशवत्वादीन्] चक्रवर्ती नारायणादि पदोंको [च] और [एकान्तवाददूषित-परसमयान्] एकान्तवादसे दूषित अन्य धर्मोंको [अपि] भी [न] नहीं [आकाङ्क्षेत्] चाहे।

भावार्थ—सम्यक्त्वधारी जीव इसलोकसम्बन्धी पुण्यके फलोंकी आकांक्षा नहीं करता है और न परलोकसम्बन्धी वैभव चाहता है। क्योंकि, वह पुण्यके फलरूप इन्द्रियोंके विषयोंको आकुलताके निमित्तसे दुःखरूप ही जानता है, इसको निःकांक्षित अर्थात् वाञ्छा रहित अंग कहते हैं।

१-इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा। इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः॥११॥ —स्वामी समन्तभद्राचार्यकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार। अर्थात्—तत्त्व यही है, ऐसे ही हैं, अन्य नहीं हैं, अथवा और प्रकार नहीं है, ऐसी निष्कम्प खड्गधारके पानीके समान सन्मार्गमें संशय रहित रुचि या विश्वास होनेको निश्शंकित अंग कहते हैं।

२-कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये। पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता॥१२॥ (र० क०) यहाँ कांक्षाका अर्थ वांछा अथवा चाह है। चाह किसकी? विषयोंकी विषय-साधनोंकी।

[illegible] [तत्] [illegible] [अनृतं अपि] [illegible] [निषेधे] [illegible] [सकला:] [illegible] [सन्ति] है ।

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु ।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥ ९२ ॥

अन्वयार्थी—[यस्मिन्] [illegible] [स्वक्षेत्रकालभावैः] [illegible] [सदपि] [illegible] [वस्तु] [illegible] [निषिध्यते] [illegible] [तत्] [illegible] [प्रथमम्] [illegible] [असत्यं] [illegible] [स्यात्] [illegible] [यथा] [illegible] [अत्र] [illegible] [देवदत्तः] [illegible] [नास्ति] [illegible]

भावार्थ—[illegible]

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः ।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः ॥ ९३ ॥

अन्वयार्थी—[हि] [illegible] [यत्र] [illegible] [तैः परक्षेत्रकालभावैः] [illegible] [असदपि] [illegible] [वस्तुरूपं] [illegible] [उद्भाव्यते] [illegible] [तत्] [illegible] [द्वितीयं] [illegible] [अनृतम्] [illegible] [स्यात्] [illegible] [यथा] [illegible] [अस्मिन्] [illegible] [घटः अस्ति] [illegible]

भावार्थ—[illegible]

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् ।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाश्वः ॥ ९४ ॥

अन्वयार्थी—[च] [illegible] [यस्मिन्] [illegible] [स्वरूपात्] [illegible] [सदपि] [illegible] [वस्तु] [illegible] [पररूपेण] [illegible] [अभिधीयते] [illegible] [इदं] [illegible] [तृतीयं अनृतम्] [illegible] [विज्ञेयं] [illegible] [यथा] [illegible] [गौः] [illegible] [अश्वः] [illegible] [इति] [illegible]

५. उपगूहन.[1]

धर्मोऽभिवर्धनीय सदात्मनो मार्दवादिभावनया ।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थौ—[उपबृंहणगुणार्थम्] उपबृंहण नामक गुणके अर्थ [मार्दवादिभावनया] मार्दव क्षमा संतोषादि भावनाओंके द्वारा [सदा] निरन्तर [आत्मानो धर्मः] अपने आत्माके धर्म अर्थात् शुद्ध-स्वभावको [अभिवर्धनीयः] वृद्धिंगत करना चाहिये और [परदोषनिगूहनमपि] दूसरोंके दोषोंको गुप्त रखना भी [विधेयम्] कर्त्तव्य-कर्म है ।

भावार्थ—उपबृंहण शब्दका अर्थ 'बढ़ाना' है, अतएव अपने आत्माका धर्म बढ़ाना कहा गया तथा इस अंगको उपगूहन भी कहते हैं, जिसका अर्थ ढाँकना है। इससे पराये दोषोंका ढाँकना लक्षित होता है। क्योंकि दोषोंके प्रगट करनेसे दोषी पुरुषकी आत्माको अत्यन्त कष्ट होता है। कोमलता सरलता आदि भावनाओंसे आत्माके धर्मकी बढ़वारी होती है। और पराये दोषोंके छिपानेसे भी आत्मोन्नति होती है, उस दूसरे मनुष्यका भी उससे बहुत सुधार हो सकता है। अतएव यह उपबृंहण नामक पाँचवाँ अंग है।

६. स्थितिकरण.[2]

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात् ।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ॥ २८ ॥

अन्वयार्थौ—[कामक्रोधमदादिषु] काम, क्रोध, मद, लोभादि विकार [न्यायात् वर्त्मनः] न्यायमार्गसे अर्थात् धर्ममार्गसे [चलयितुम्] विचलित करनेके लिए [उदितेषु] प्रगट हुए हों तब [श्रुतम्] श्रुतानुसार [आत्मनः परस्य च] अपनी और दूसरोंको [स्थितिकरणम्] स्थिरता [अपि] भी [कार्यम्] करनी चाहिए।

भावार्थ—यदि अपने परिणाम धर्मसे भ्रष्ट होते हों तो आपको और यदि दूसरेके होते हों तो दूसरेको जिस प्रकार हो सके धर्ममें दृढ़ करना, यह सम्यक्त्वका स्थितिकरण नाम छट्ठा अंग है।

७. वात्सल्य[3]

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे ।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम् ॥ २९ ॥

---

[1] १–स्वयंशुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम् । वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥१५॥ (र० क०) अर्थात्—"स्वयंशुद्ध मोक्षमार्गकी अशक्त और अज्ञानी जीवोंके आश्रयसे होती हुई निन्दाके दूर करनेको उपगूहन कहते हैं।

[2] २–दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः । प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते ॥१६॥ (र० क०) अर्थात्—सम्यग्दर्शनसे और सम्यक्चारित्रसे चलायमान होते हुए जीवोंको धर्मवत्सल विद्वानोंद्वारा स्थिरीभूत किये जानेको स्थितिकरण कहते हैं।

[3] ३–स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा । प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥१७॥ (र० क०) अर्थात्—अपने समूहके धर्मात्मा जीवोंका समीचीन भावसे कपट रहित यथायोग्य सत्कार करनेको वात्सल्य कहते हैं।

[illegible]] [illegible] [प्रमादात्] [illegible] [सत्यवचने] [illegible] [अपि] [illegible] [हिंसा] [illegible] [नियतं] [illegible] [सूनृतवचनमपि] [illegible] ।

भावार्थ—[illegible] ।

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम् ।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥ १०० ॥

अन्वयार्थौ—[सकलवितथवचनानाम्] [illegible] [प्रमत्तयोगे] [illegible] [हेतौ] [illegible] [निर्दिष्टे सति] [illegible] [हेयानुष्ठानादेः] [illegible] [अनुवदनं] [illegible] [असत्यम्] [illegible] [न भवति] [illegible] ।

भावार्थ—[illegible] ।

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम् ।
ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु ॥ १०१ ॥

अन्वयार्थौ—[ये] [illegible] [भोगोपभोगसाधनमात्रं] [illegible] [सावद्यम्] [illegible] [मोक्तुम्] [illegible] [अक्षमाः] [illegible] [तेऽपि] [illegible] [शेषम्] [illegible] [समस्तमपि] [illegible] [अनृतं] [illegible] [नित्यमेव] [illegible] [मुञ्चन्तु] [illegible] ।

भावार्थ—[illegible] ।

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत् ।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥ १०२ ॥

परम्परा व युक्ति अर्थात् प्रमाण नयके अनुयोगोंद्वारा [**निरूप्य**] विचार करके [**यत्नेन**] यत्नपूर्वक [**सम्यग्ज्ञानं**] सम्यग्ज्ञान [**समुपास्यं**] भले प्रकार सेवन करने योग्य है ।

भावार्थ—पदार्थका जो स्वरूप जिनागमकी परम्परासे मिलता है, उसे प्रमाणपूर्वक अपने उपयोगमें स्थिरकर यथावत् जानना यही सम्यग्ज्ञानकी यथार्थ सेवा है ।

प्रमाण नयका संक्षिप्त स्वरूप ।

प्रमाण.

'**तत्प्रमाणे,**' तत्त्वार्थसूत्रके इस वचनसे सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है, और प्रमाणके मुख्य दो भेद हैं, पहला प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष । यहाँपर पहिले प्रत्यक्षप्रमाणके भेदोपभेद बतलाते हैं—

प्रत्यक्षप्रमाणके दो भेद हैं पहला **पारमार्थिकप्रत्यक्ष** दूसरा **सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष** । जो ज्ञान केवल आत्मा ही के आधीन रहकर जितना अपना विषय है, उतना विशुद्धतासे स्पष्ट जानता है, वह पारमार्थिकप्रत्यक्ष है और जो नेत्रादिक इन्द्रियोंसे रूप रसादिकको साक्षात् ग्रहणकालमें जानता है, वह **सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष** है । पारमार्थिकप्रत्यक्ष दो प्रकारका है । **एकदेशपारमार्थिकप्रत्यक्ष** और **सर्वदेशपारमार्थिकप्रत्यक्ष** । अवधिज्ञान और मनःपर्य्ययज्ञान देशप्रत्यक्ष और केवलज्ञान सर्वप्रत्यक्ष है । **सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष** व्यवहार दृष्टिसे प्रत्यक्ष कहा गया है । परन्तु परमार्थदृष्टिसे परोक्ष ही कहा जाता है क्योंकि इस ज्ञानसे सर्वथा स्पष्ट जानना नहीं होता । जैसे—किसी वस्तुको नेत्रसे देखते ही ज्ञान हुआ कि, यह वस्तु सफेद है । यद्यपि उस वस्तुमें मलिनताका भी मिलाप है परन्तु स्पष्ट प्रतिभासित नहीं हो सका कि उनमें कितने अंश सफेदीके हैं और कितने मलिनताके हैं । अतएव यह व्यवहारमात्र प्रत्यक्ष है, यथार्थमें परोक्ष है ।

परोक्षप्रमाण—जो इंद्रियजन्य ज्ञान अपने विषयको स्पष्ट न जाने उसे परोक्षप्रमाण कहते हैं । मतिज्ञान और श्रुतज्ञानसे जो कुछ जाना जाता है, वह सब परोक्षप्रमाण है । इसके मुख्य पाँच भेद हैं। १ स्मृति, २ प्रत्यभिज्ञान, ३ तर्क, ४ अनुमान, और ५ आगम ।

१ **स्मृति**—पूर्वमें जो पदार्थ जाना था उसके स्मरणमात्रको स्मृति कहते हैं ।

२ **प्रत्यभिज्ञान**—पूर्व वार्ताका स्मरणकर प्रत्यक्ष पदार्थके साथ जोड़कर निश्चय करनेको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं—जैसे किसी पुरुषने पहिले सुना था कि, **गवय** (रोज़) गाय सरीखा होता है, और फिर वह कदाचित् जंगलमें **गवय** देखकर जाने कि जो गाय सरीखा गवय जानवर सुना था वह यही है । इस ज्ञानमें 'वह' इतने मात्र ज्ञानको स्मृति 'यह' इतनेको अनुभव, और स्मृति तथा अनुभवसम्मिश्रित 'वह यही है' इतने ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं ।

३ **तर्क**—व्याप्तिज्ञानको तर्क कहते हैं, और एकके विना एक न होवे इसे व्याप्ति कहते हैं, जैसे अग्निके विना धुआँ नहीं रहता, आत्माके विना चेतना नहीं रहती, इसी व्याप्तिका जानना तर्क कहलाता है ।

अन्वयार्थौ—[च] और [नागमानाम्] [illegible] [[illegible]] [illegible] [कर्मानुसारेण] [illegible] [अपि] [illegible] [[illegible]] [illegible] [परिग्रहणात्] [illegible] [नयोः] [illegible] दोनोंमें अर्थात् हिंसा और चोरीमें [अतिव्याप्तिः] अतिव्याप्ति भी [न] नहीं है ।

भावार्थ—"अदत्तादानं स्तेयं", इस सूत्रके अनुसार [illegible] [illegible]

[illegible] "प्रमत्तयोगात् अदत्तादानं स्तेयं" अर्थात् "प्रमादके योगसे [illegible] ग्रहण करना चोरी है ।"

असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम् ।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥ १०६ ॥

अन्वयार्थौ—[ये] जो जीव [निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्] [illegible] [कर्तुं] [illegible] [असमर्थाः] असमर्थ हैं, [तैः] [illegible] [अपि] भी [अपरं] [illegible] [समस्तम्] [illegible] [अदत्तं] [illegible] [नित्यम्] [illegible] [परित्याज्यम्] [illegible] है ।

भावार्थ—[illegible] सर्वदेश त्याग [illegible] एकदेश त्याग [illegible] [illegible] सर्वदेश त्याग [illegible] एकदेश त्याग [illegible] एकदेश त्यागी [illegible] सर्वदेशत्यागी [illegible]

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म ।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात् ॥ १०७ ॥

अन्वयार्थौ—[यत्] [illegible] [वेदरागयोगात्] [illegible] [मैथुनं] [illegible] [अभिधीयते] [illegible] [तत्] [illegible] [अब्रह्म] [illegible] [तत्र] [illegible] [वधस्य] [illegible] [सर्वत्र] [illegible] [सद्भावात्] [illegible] [हिंसा] [illegible] [अवतरति] [illegible]

[illegible]

[illegible]

इस प्रकार द्रव्यार्थिक और पर्य्यायार्थिक दोनोंके मिलकर सात भेद नयके होते हैं। ऊपर कहे हुए प्रमाण और नयके संयोगको "**नयप्रमाणाभ्याम् युक्तिः**" इति वचनात् (इस वचनसे) युक्ति कहते हैं। इस प्रकार प्रमाण और नयका संक्षिप्त कथन "**प्रमाणनयैरधिगमः**" (पदार्थोंका यथार्थज्ञान प्रमाण नयोंसे ही होता है) सूत्रपर ध्यान देकर ही किया गया है, और इसका आगे काम भी बहुत पड़ेगा।

पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं संभवत्यनयोः॥ ३२॥

अन्वयार्थौ—[**दर्शनसहभाविनोपि**] सम्यग्दर्शनके साथ उत्पन्न होनेपर भी [**बोधस्य**] सम्यग्ज्ञानका [**पृथगाराधनम्**] जुदा ही आराधन करना [**इष्टं**] ठीक अर्थात् कल्याणकारी है, [**यतः**] क्योंकि [**अनयोः**] इन दोनोंमें अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें [**लक्षणभेदेन**] लक्षणभेदसे [**नानात्वं**] भिन्नता [**संभवति**] संभव होती है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनका लक्षण यथार्थ श्रद्धान है और सम्यग्ज्ञानका लक्षण यथार्थ जानना है, इसी कारण सम्यग्ज्ञानको जुदा ही कहना चाहिए।

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्॥ ३३॥

अन्वयार्थौ—[**जिनाः**] जिनेन्द्रदेव [**सम्यग्ज्ञानं**] सम्यग्ज्ञानको [**कार्यं**] कार्य और [**सम्यक्त्वं**] सम्यक्त्वको [**कारणं**] कारण [**वदन्ति**] कहते हैं, [**तस्मात्**] इस कारण [**सम्यक्त्वानन्तरं**] सम्यक्त्वके बाद ही [**ज्ञानाराधनम्**] ज्ञानकी उपासना [**इष्टम्**] ठीक है।

भावार्थ—यद्यपि पहिले मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पदार्थको जानते थे, परन्तु सम्यक्त्वके विना उन दोनोंका नाम कुमति और कुश्रुत था। जिस समय सम्यक्त्व हुआ उसी समय मतिज्ञान और श्रुतज्ञान नाम हो गया, सारांश ज्ञान यद्यपि था, परन्तु उनमें सम्यक्त्वपना सम्यग्दर्शनसे ही हुआ। अतएव सम्यक्त्व कारणरूप और सम्यग्ज्ञान कार्यरूप है।

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम्॥ ३४॥

अन्वयार्थौ—[**हि**] निश्चयकर [**सम्यक्त्वज्ञानयो**] सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनोंके [**समकालं**] एककालमें [**जायमानयोः अपि**] उत्पन्न होनेपर भी [**दीपप्रकाशयोः**] दीप और प्रकाशके [**इव**] समान [**कारणकार्यविधानं**] कारण और कार्यकी विधि [**सुघटम्**] भले प्रकार घटित होती है।

भावार्थ—यद्यपि दीपकका जलना और उसका प्रकाश एक ही साथ होता है, और जबतक दीपक जलता रहता है, तबतक ही प्रकाश रहता है, परन्तु दीपकका जलना प्रकाशका कारण है। इसी प्रकार यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक ही समय होते हैं, परंतु सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है।

भावार्थ—[illegible]

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः ।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः ॥ १११ ॥

अन्वयार्थौ—[इयं] यह [या] जो [मूर्च्छानाम] मूर्च्छा है [एषः] इसको ही [हि] निश्चय करके [परिग्रहः] परिग्रह [विज्ञातव्यः] जानना चाहिये, [तु] और [मोहोदयात्] मोहके उदयसे [उदीर्णः] उत्पन्न हुआ [ममत्वपरिणामः] ममत्व परिणाम ही [मूर्च्छा] मूर्च्छा है ।

भावार्थ—[illegible]

मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य ।
सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनापि किल शेषसङ्गेभ्यः ॥ ११२ ॥

अन्वयार्थौ—[परिग्रहत्वस्य] [illegible] [मूर्च्छालक्षणकरणात्] [illegible] [व्याप्तिः] [illegible] [सुघटा] [illegible] [शेषसङ्गेभ्यः] [illegible] [विना अपि] [illegible] [मूर्च्छावान्] [illegible] [किल] [illegible] [सग्रन्थः] [illegible]

भावार्थ—[illegible]

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरङ्गः ।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्वम् ॥ ११३ ॥

अन्वयार्थौ—[यदि] जो [एवं] [illegible] [भवति] [illegible] [तदा] [illegible] [खलु] [illegible] [बहिरङ्गः परिग्रहः] [illegible] [कः अपि] [illegible] [न] [illegible] [भवति] [illegible] [यतः] [illegible] [असौ] [illegible] [मूर्च्छानिमित्तत्वम्] [illegible] [नितरां] [illegible] [धत्ते] [illegible]

३ **उभयाचार**—अर्थ और शब्द दोनोंसे शुद्ध पठन-पाठन करनेको कहते हैं।[1]

४ **कालाचार**—गोसर्गकाल[2], प्रदोषकाल[3], प्रदोषकाल[4], और विरात्रिकाल[5] इन चार उत्तम कालोंमें पठन-पाठनादिरूप स्वाध्याय करनेको कालाचार कहते हैं। चारों संध्याओंकी अन्तिम दो दो घड़ियोंमें, दिग्दाह, उल्कापात, वज्रपात, इन्द्रधनुष, सूर्य-चन्द्रग्रहण, तूफान, भूकम्प, आदि उत्पातोंके समयमें सिद्धान्त-ग्रन्थोंका पठन-पाठन वर्जित है। हाँ स्तोत्र, आराधना, धर्मकथादिकके ग्रन्थ वाँच सकते हैं।

५ **विनयाचार**—शुद्ध जलसे हाथ पाँव धोकर शुद्ध स्थानमें पर्यङ्कासन बैठकर नमस्कारपूर्वक शास्त्राध्ययनको कहते हैं।

६ **उपधानाचार**—उपधान सहित आराधन करनेको अर्थात् विस्मृत न हो जानेको कहते हैं।

७ **बहुमानाचार**—ज्ञान, पुस्तक और शिक्षकका पूर्ण आदर करनेको कहते हैं।

८ **अनिह्नवाचार**—जिस गुरुसे जिस शास्त्रसे ज्ञान उत्पन्न होवे उसको गोपन न करनेको कहते हैं।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचिते पुरुषार्थसिद्धयुपाये अपरनाम जिनप्रवचनरहस्यकोषे सम्यग्ज्ञानवर्णनो नाम द्वितीयोऽधिकारः।

---

३ सम्यक्चारित्रव्याख्यान।

विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः।
नित्यमपि निःप्रकम्पैः सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम् ॥ ३७॥

अन्वयार्थौ—[**विगलितदर्शनमोहैः**] दर्शनमोह जिन्होंने नष्ट कर दिया है, [**समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः**] सम्यग्ज्ञानसे जिन्हें तत्त्वार्थ विदित हुआ है, [**नित्यमपि निःप्रकम्पैः**] जो सदाकाल अकम्प अर्थात् दृढ़चित्त हैं, ऐसे पुरुषोंद्वारा [**सम्यक्चारित्रम्**] सम्यक्चारित्र [**आलम्ब्यम्**] अवलम्बन करने योग्य है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्तिके पश्चात् सम्यक्चारित्र अंगीकार करना चाहिये।

१-उभयाचारको शब्द अर्थसे पृथक् करके तीसरा भेद माननेका कारण यह है, कि कहीं कहीं केवल ग्रन्थसे ही ज्ञानकी आराधना होती है, जैसे दशाध्यायसूत्र तथा भक्तामरादिस्तोत्रोंके पाठमात्रसे और कहीं कहीं केवल अर्थसे ही जैसे, शिवभूतिमुनि 'शरीरसे आत्मा तुषमाषकी तरह भिन्न है,' केवल यह जानकर कल्याणको प्राप्त हुए। २-मध्याह्नसे दो घड़ी पहिले और सूर्योदयसे दो घड़ी पीछे। ३-मध्याह्नसे दो घड़ी पश्चात् और रात्रिसे दो घड़ी पहिले। ४-रात्रिसे दो घड़ी पश्चात् और अर्धरात्रिसे दो घड़ी पहले। ५-मध्यरात्रिसे दो घड़ी पश्चात् और सूर्योदयसे दो घड़ी पहले।

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ ।
नैषः कदापि सङ्गः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम् ॥ ११७ ॥

अन्वयार्थौ—[अथ] इसके अनन्तर [बाह्यस्य] बाह्य [परिग्रहस्य] परिग्रहके [निश्चित्तसचित्तौ] अचित्त और सचित्त ये [द्वौ] दो [भेदौ] भेद हैं, सो [एषः] यह [सर्वः] समस्त [अपि] ही [सङ्गः] परिग्रह [कदापि] किसी समय भी [हिंसाम्] हिंसाको [न] नहीं [अतिवर्तते] उल्लंघन करता अर्थात् कोई भी परिग्रह किसी समय हिंसारहित नहीं है ।

उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति ।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः ॥ ११८ ॥

अन्वयार्थौ—[जिनप्रवचनज्ञाः] जैनसिद्धान्तके ज्ञाता [आचार्याः] आचार्य [उभयपरिग्रहवर्जनम्] दोनों प्रकारके परिग्रहके त्यागको [अहिंसा] अहिंसा [इति] ऐसे और [द्विविधपरिग्रहवहनं] दोनों प्रकारके परिग्रहके धारनेको [हिंसा इति] हिंसा ऐसा [सूचयन्ति] सूचन करते हैं ।

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसान्तरङ्गसङ्गेषु ।
बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम् ॥ ११९ ॥

अन्वयार्थौ—[हिंसापर्यायत्वात्] हिंसाके पर्याय होनेसे [अन्तरङ्गसङ्गेषु] अन्तरङ्ग परिग्रहोंमें [हिंसा] हिंसा [सिद्धा] स्वयंसिद्ध है, [तु] और [बहिरङ्गेषु] बहिरङ्ग परिग्रहोंमें [मूर्च्छा] ममत्व परिणाम [एव] ही [हिंसात्वम्] हिंसा भावको [नियतम्] निश्चयसे [प्रयातु] प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—[illegible]

एवं न विशेषः स्यादुन्दुररिपुहरिणशावकादीनाम् ।
नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्च्छाविशेषेण ॥ १२० ॥

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः ।
कार्त्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥ ४० ॥

अन्वयार्थौ—[हिंसातः] हिंसासे, [अनृतवचनात्] असत्य भाषणसे, [स्तेयात्] चोरीसे, [अब्रह्मतः] कुशीलसे, और [परिग्रहतः] परिग्रहसे [कार्त्स्न्यैकदेशविरतेः] सर्वदेश और एकोदेश त्यागसे वह [चारित्रं] चारित्र [द्विविधम्] दो प्रकारका [जायते] होता है ।

भावार्थ—हिंसादिक पापोंके सर्वथा त्यागको सकलचारित्र और एकोदेश त्यागको देशचारित्र कहते हैं ।

निरतः कार्त्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थौ—[कार्त्स्न्यनिवृत्तौ] सर्वथा सर्वदेशत्यागमें [निरतः] लवलीन [अयम् यतिः] यह मुनि [समयसारभूतः] शुद्धोपयोगरूप स्वरूपमें आचरण करनेवाला [भवति] होता है । [या तु एकदेशविरतिः] और जो एकदेशविरति है, [तस्याम् निरतः] उसमें लगा हुआ [उपासकः] उपासक अर्थात् श्रावक [भवति] होता है ।

भावार्थ—सकलचारित्रका स्वामी मुनि और देशचारित्रका स्वामी श्रावक है ।

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थौ—[आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्] आत्माके शुद्धोपयोगरूप परिणामोंके घात होनेके हेतुसे [एतत्सर्वम्] ये सब [हिंसा एव] हिंसा ही हैं, [अनृतवचनादि] अनृत वचनादिक भेद [केवलम्] केवल [शिष्यबोधाय] शिष्योंको समझानेके लिये [उदाहृतं] उदाहरणरूप कहे हैं ।

भावार्थ—पाँचो पाप (हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रह) हिंसामें ही गर्भित हैं । क्योंकि इन सब पापोंसे आत्माके शुद्ध परिणामोंका घात होता है, इस कारण पाँचों पाप हिंसाके ही भेद हैं ।

यत्खलुकषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थौ—[कषाययोगात्] कषायरूप परिणमन हुए मन वचन कायके योगोंसे [यत्] [द्रव्यभावरूपाणाम्] द्रव्य और भावरूप दो प्रकारके [प्राणानां] प्राणोंका [illegible]] व्यपरोपणका या घातका करना है, [खलु] निश्चयसे [सा] वह [सुनिश्चिता] अच्छी निश्चय की हुई [हिंसा] हिंसा [भवति] होती है ।

[illegible]

[illegible] ॥ १५४ ॥

अन्वयार्थौ—[[illegible]] [illegible] [[illegible]] [illegible] [[illegible]] [illegible]

[illegible] ॥ १५५ ॥

अन्वयार्थौ—[[illegible]] [illegible]

भावार्थ—[illegible]

[illegible] ॥ १५६ ॥

भावार्थ—यदि किसी सज्जनपुरुषके सावधानतापूर्वक गमनादि करनेमें भी उसके शरीरसम्बन्धसे कोई जीव पीड़ित हो जावें, तो उसे हिंसाका दूषण कदापि नहीं लग सकता, क्योंकि उसके परिणाम कषाययुक्त नहीं थे। यही कारण है कि "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा" यह हिंसाका लक्षण कहा है। यदि केवल "**प्राणव्यपरोपणं हिंसा**" अर्थात् प्राणोंको पीड़ा देना मात्र ही हिंसाका लक्षण कहा होता तो ऐसे अवसरपर अतिव्याप्तिदूषणका सद्भाव होता, इसके सिवाय अव्याप्तिदूषणका भी प्रवेश हो जाता, जो आगेके श्लोकसे प्रकट होगा।

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थौ—[**रागादीनां**] रागादिक भावोंके [**वशप्रवृत्तायाम्**] वशमें प्रवृत्त हुई [**व्युत्थानावस्थायां**] अयत्नाचाररूप प्रमाद अवस्थामें [**जीवः**] जीव [**म्रियतां**] मरो [**वा**] अथवा [**मा** 'म्रियतां'] न मरो, [**हिंसा**] हिंसा तो [**ध्रुवं**] निश्चयकर [**अग्रे**] आगे ही [**धावति**] दौड़ती है।

भावार्थ—जो प्रमादी जीव कषायोंके वशीभूत होकर गमनादि क्रिया यत्नपूर्वक नहीं करता, वह 'जीव मरे अथवा नहीं मरे', हिंसाके दोषका भागी अवश्य होता है, क्योंकि हिंसा कषाय भावोंसे उत्पन्न होती है, और इसके कषायभावका सद्भाव है ही। इस वाक्यसे प्राणोंको पीडा न होते भी हिंसा सिद्ध होती है। यदि पूर्वकथित प्राणव्यपरोपण मात्र (प्राणपीड़नमात्र) लक्षण कहा होता तो अव्याप्तिदूषण आता। विना किसीके प्राणोंका घात हुए ही हिंसा क्यों हो गई? इस प्रश्नका समाधान आगेके श्लोकसे हो जायगा।

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थौ—[**यस्मात्**] क्योंकि [**आत्मा**] जीव [**सकषायः सन्**] कषाय भावों सहित होनेसे [**प्रथमम्**] पहिले [**आत्मना**] आपके ही द्वारा [**आत्मानम्**] आपको [**हन्ति**] घातता है, [**तु**] फिर [**पश्चात्**] पीछेसे चाहे [**प्राण्यन्तराणां**] अन्य जीवोंकी [**हिंसा**] हिंसा [**जायेत**] होवे [**वा**] अथवा [**न**] नहीं होवे।

भावार्थ—हिंसा शब्दका अर्थ घात करना है, परन्तु यह घात दो प्रकारका है, एक आत्मघात, दूसरा परघात। जिस समय आत्मामें कषाय भावोंकी उत्पत्ति होती है, उसी समय आत्मघात हो जाता है। पीछे यदि अन्य जीवोंकी आयु पूरी हो गई हो, अथवा पापका उदय आया हो तो उनका भी घात हो जाता है, अन्यथा आयुकर्म पूर्ण न हुआ हो, पापका उदय न आया हो, तो कुछ भी नहीं होता, क्योंकि उनका घात उनके कर्मोंके अधीन है; परन्तु आत्मघात तो कषायोंकी उत्पत्ति होते ही हो जाता है, और आत्मघात तथा परघात दोनों ही हिंसा है।

[illegible] [आरम्भः] [illegible] [हि] [illegible] [हिंसा] [illegible] [कथं] [illegible]
[न संभवति] [illegible]

भावार्थ—[illegible]

यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः ।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ॥ १२९ ॥

अन्वयार्थौ—[यदि एवं] [illegible] [तर्हि] [illegible] [दिवा भोजनस्य] [illegible] [परिहारः] [illegible] [कर्तव्यः] [illegible] [तु] [illegible] [निशायां] [illegible] [भोक्तव्यं] [illegible] [इत्थं] [illegible] [हिंसा] [illegible] [नित्यं] [illegible] [न] [illegible] [भवति] [illegible]

नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागोऽधिको रजनिभुक्तौ ।
अन्नकवलस्य भुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥ १३० ॥

अन्वयार्थौ—[एवं न] [illegible] [अन्नकवलस्य] [illegible] [भुक्तेः] [illegible] [मांसकवलस्य] [illegible] [भुक्तौ इव] [illegible] [वासरभुक्तेः] [illegible] [रजनिभुक्तौ] [illegible] [हि] [illegible] [रागाधिकः] [illegible] [भवति] [illegible]

भावार्थ—[illegible]

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम् ।
अपि बोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥ १३१ ॥

अन्वयार्थौ—[illegible] [अर्कालोकेन विना] [illegible] [भुञ्जानः] [illegible] [बोधितः प्रदीपे] [illegible] [अपि] [illegible] [भोज्यजुषां] [illegible] [सूक्ष्मजीवानाम्] [illegible] [हिंसां] [illegible] [कथं] [illegible] [परिहरेत्] [illegible]

निश्चयमवुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते ।
नाशयति करणचरणं स बहिःकरणालसो बालः ॥ ५० ॥

अन्वयार्थौ—[**यः**] जो जीव [**निश्चयम्**] यथार्थ निश्चयके स्वरूपको [**अबुध्यमानः**] नहीं जानकर [**तमेव**] उसको ही [**निश्चयतः**] निश्चयश्रद्धानेसे [**संश्रयते**] अंगीकार करता है । [**सः**] वह [**बालः**] मूर्ख [**बहिःकरणालसः**] बाह्य क्रियामें आलसी है और [**करणचरणं**] बाह्यक्रियारूप आचरणको [**नाशयति**] नष्ट करता है ।

अर्थात्—जो जीव निश्चयनयके स्वरूपको न जानकर व्यवहाररूप बाह्य परिग्रहके त्यागको निश्चयसे मोक्षमार्ग जान अंगीकार करता है, वह मूर्ख शुद्धोपयोगरूप आत्माकी दयाको नष्ट करता है ।

भावार्थ—जो कोई पुरुष यह कहता है कि मेरे अन्तरंग परिणाम स्वच्छ होना चाहिये, बाह्य परिग्रहादिक रखने या भ्रष्टरूप आचरण करनेसे मुझमें कोई दोष नहीं आ सकता, वह अहिंसाके आचरणको नष्ट करता है, क्योंकि बाह्य निमित्तसे अन्तरंग परिणाम अशुद्ध होते ही हैं । अतएव एक ही पक्ष ग्रहण नहीं करके निश्चय और व्यवहार दोनों ही अंगीकार करना चाहिए ।

अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभुग् भवत्येकः ।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थौ—[**हि**] निश्चयकर [**एकः**] एक जीव [**हिंसां**] हिंसाको [**अविधाय अपि**] नहीं करके भी [**हिंसाफलभुग्**] हिंसा-फलके भोगनेका पात्र [**भवति**] होता है, और [**अपरः**] दूसरा [**हिंसां कृत्वा अपि**] हिंसा-करके भी [**हिंसाफलभाजनं**] हिंसाके फलको भोगनेका पात्र [**न स्यात्**] नहीं होता है ।

भावार्थ—जिसके परिणाम हिंसारूप हुए, चाहे वे परिणाम हिंसाका कोई कार्य न कर सके हों तो भी वह जीव हिंसाके फलको भोगेगा, और जिस जीवके शरीरसे किसी कारण हिंसा तो हो गई परन्तु परिणामोंमें हिंसा नहीं आई, वह हिंसा करनेका भागी कदापि नहीं होगा ।

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम् ।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थौ—[**एकस्य**] एक जीवको तो [**अल्पा**] थोड़ी [**हिंसा**] हिंसा [**काले**] उदयकालमें [**अनल्पम्**] बहुत [**फलम्**] फलको [**ददाति**] देती है, और [**अन्यस्य**] दूसरे जीवको [**महाहिंसा**] बड़ी भारी हिंसा भी [**परिपाके**] उदय समयमें [**स्वल्पफला**] बिलकुल थोड़े फलको देनेवाली [**भवति**] होती है ।

[illegible]

इति निगदित[illegible] ॥
[illegible] ॥ १२८ ॥

[illegible]

[illegible] ॥
[illegible] ॥ १२९ ॥

[illegible]

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः ।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग् भवत्येकः ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थौं—[एकः] एक पुरुष [हिंसां] हिंसाको [करोति] करता है, परन्तु [फलभागिनः] फल भोगनेके भागी [बहवः] बहुत [भवन्ति] होते हैं, इसी प्रकार [हिंसां] हिंसाको [बहवः] बहुत जन [विदधति] करते हैं, परन्तु [हिंसाफलभुक्] हिंसाके फलका भोक्ता [एकः] एक पुरुष [एकः] होता है ।

भावार्थ—किसी जीवको मारते देखकर अन्य देखनेवाले जो अच्छा कहते और प्रसन्न होते हैं, वे सब ही हिंसाफलके भागी होते हैं । इसीसे कहते हैं कि एक करता है और फल अनेक भोगते हैं । तथा इसी प्रकार संग्राममें हिंसा तो अनेक पुरुष करते हैं, परन्तु उनपर आज्ञा करनेवाला राजा उस सब हिंसाके फलका भागी होता है, अर्थात् अनेक करते हैं और फल एक भोगता है ।

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले ।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम् ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थौं—[कस्यापि] किसी पुरुषको तो [हिंसा] हिंसा [फलकाले] उदय कालमें [एकमेव] एक ही [हिंसाफलम्] हिंसाके फलको [दिशति] देती है, और [अन्यस्य] किसी पुरुषको [सैव] वही [हिंसा] हिंसा [विपुलम्] बहुतसे [अहिंसाफलं] अहिंसाके फलको [दिशति] देती है ।

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे ।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥ ५७ ॥

अन्वयार्थौं—[तु अपरस्य] और किसी को [अहिंसा] अहिंसा [परिणामे] उदयकालमें [हिंसाफलम्] हिंसाके फलको [ददाति] देती है, [तु पुनः] तथा [इतरस्य] अन्य किसीको [हिंसा] हिंसा [अहिंसाफलं] अहिंसाके फलको [दिशति] देती है, [अन्यत् न] अन्य फलको नहीं ।

भावार्थ—कोई जीव किसी जीवके बुरा करनेका यत्न कर रहा हो, परन्तु उस (जीव)के पुण्यसे कदाचित् बुरेकी जगह भला हो जावे, तो भी बुराईका यत्न करनेवाला बुराईके फलका भागी होगा । इसी प्रकार कोई वैद्य नीरोग करनेके अर्थ किसी रोगीकी औषध कर रहा हो, और वह रोगी कदाचित् कारणवश मर जावे, तो वैद्य अहिंसाके ही फलको भोगेगा ।

इति विविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम् ।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थौ—[भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि] [illegible] [च] और [दलफलकुसुमोच्चयान्] [illegible] [अपि] भी [निष्कारणं] [illegible] [न कुर्यात्] न करे ।

भावार्थ—[illegible]

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम् ।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ॥ १४४ ॥

अन्वयार्थौ—[असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम्] [illegible] [हिंसायाः] [illegible] [उपकरणानां] [illegible] [वितरणम्] [illegible] [यत्नात्] [illegible] [परिहरेत्] [illegible] ।

भावार्थ—[illegible]

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम् ।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥ १४५ ॥

अन्वयार्थौ—[रागादिवर्द्धनानां] [illegible] [अबोधबहुलानाम्] [illegible] [दुष्टकथानाम्] [illegible] [श्रवणार्जनशिक्षणादीनि] [illegible] [कदाचन] [illegible] [न कुर्वीत] न करे ।

भावार्थ—[illegible]

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः ।
दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् ॥ १४६ ॥

[illegible]

[विस्मृतधर्मा] धर्मको भूला हुआ [जीवः] जीव [अविशङ्कम्] निडर होकर [हिंसाम्] हिंसाको [आचरति] आचरण करता है। अर्थात् वेधड़क हिंसा करने लगता है।

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम्॥ ६३॥

अन्वयार्थौ—[च] और [मद्यम्] मदिरा [बहूनां] बहुतसे [रसजानां जीवानां] रससे उत्पन्न हुए जीवोंकी [योनिः] योनि [इष्यते] मानी जाती है, इस कारण जो [मद्यं] मदिराको [भजतां] सेवन करते है, उनके [तेषां] उन जीवोंकी [हिंसा] हिंसा [अवश्यम्] अवश्य ही [संजायते] होती है।

भावार्थ—मदिरा निरन्तर जीवमय रहती है, उसके पानसे उन जीवोंका भी पान होता है। अतएव मदिरामें हिंसा होना अनिवार्य है।

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः॥ ६४॥

अन्वयार्थौ—[च] और [अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः] घमण्ड, डर, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोध आदि [हिंसायाः] हिंसाके [पर्यायाः] पर्याय या भेद हैं, और [सर्वेऽपि] ये सब ही [सरकसन्निहिताः] मदिराके निकटवर्ती हैं।

भावार्थ—एक मदिराके पान करनेसे जितने भाव उत्पन्न होते हैं, वे सब हिंसाके ही भेद हैं, सहज ही मदिरापानसे अभिमानादिक सभी भाव होते हैं।

न विना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा॥ ६५॥

अन्वयार्थौ—[यस्मात्] क्योंकि [प्राणिविघातात् विना] प्राणियोंके घात विना [मांसस्य] मांसकी [उत्पत्तिः] उत्पत्ति [न] नहीं [इष्यते] मानी जाती, [तस्मात्] इस कारण [मांसं भजतः] मांसभक्षी पुरुषके [अनिवारिता] अनिवार्य [हिंसा] हिंसा [प्रसरति] फैलती है।

भावार्थ—मांस जीवके शरीरका एक भाग है, जो शरीरको छोड़ अन्यत्र नहीं पाया जाता और शरीरका जब घात किया जाता है, तब ही मांसकी प्राप्ति होती है। अतएव सिद्ध है कि जीव घातके विना मांस नहीं मिलता।

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्॥ ६६॥

अन्वयार्थौ—[यदपि] यद्यपि [किल] यह सच है कि [स्वयमेव] आपसे ही [मृतस्य] मरे हुए [महिषवृषभादेः] भैंस बैलादिकोंका [मांसं] मांस [भवति] होता है, किन्तु [तत्रापि] वहाँ भी

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः ।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ॥ ७१ ॥

अन्वयार्थौ—[**मधु**] शहद, [**मद्यं**] मदिरा [**नवनीतं**] मक्खन [**च**] और [**पिशितं**] मांस [**महाविकृतयः**] महा विकारोंको धारण किये हुए [**ताः**] ये चारों पदार्थ [**व्रतिना**] व्रती पुरुष करके [**न वल्भ्यन्ते**] भक्षण करने योग्य नहीं हैं । क्योंकि [**तत्र**] उन वस्तुओंमें [**तद्वर्णाः**] उस ही जातिके [**जन्तवः**] जीव रहते हैं ।

भावार्थ—मधुमें मधुके, मदिरामें मदिराके, मक्खनमें मक्खनके और मांसमें मांसके रंगके जीव उत्पन्न होते रहते हैं, जो कि दृष्टिगोचर नहीं होते हैं । इस कारण इन वस्तुओंको खाना उचित नहीं है । विकारयुक्त वस्तुओंमें चर्मस्पर्शित घी, तैल, जल, तथा अचार, संधाणा, विष, माटी आदि और भी जानना ।

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि ।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थौ—[**उदुम्बरयुग्मं**] ऊमर, कठूमर अर्थात् अंजीर [**प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि**] पाकर, वड़ और पीपलके फल [**त्रसजीवानां**] त्रस जीवोंकी [**योनिः**] योनि या खानि हैं, [**तस्मात्**] इस कारण [**तद्भक्षणे**] उनके भक्षणमें [**तेषां**] उन त्रस जीवोंकी [**हिंसा**] हिंसा होती है ।

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि ।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थौ— [**तु पुनः**] और फिर भी [**यानि**] जो पाँच उदम्बर [**शुष्काणि**] सूखे हुए [**कालोच्छिन्नत्रसाणि**] काल पाकर त्रस जीवोंसे रहित [**भवेयुः**] हो जावें, [**तान्यपि**] उनको भी [**भजतः**] भक्षण करनेवालेके [**विशिष्टरागादिरूपा**] विशेषरागादिरूप [**हिंसा**] हिंसा [**स्यात्**] होती है ।

भावार्थ—जो पुरुष ऐसे निंद्य पदार्थोंको सुखाकर खावेगा, उसके राग भावोंकी विशेषता अवश्य ही होगी । क्योंकि ये पदार्थ रागकी अधिकताके विना गेहूँ चना आदि अन्नोंके समान साहजिक प्रकृतिसे नहीं सुखाये जाते, अतएव इन फलोंको सुखाकर त्रस जीव नहीं रहे, ऐसा वहाना वनाकर कभी भक्षण नहीं करना चाहिये, क्योंकि त्रसजीवोंकी विराधनासे भी इसके भक्षणमें अधिक हिंसा होती है ।

१–किसी किसी प्रतिमें यह एक श्लोक और भी पाया जाता है, परन्तु पं० टोडरमलजीने इसका अर्थ नहीं लिखा वह यह है:—

मधुशकलमपि प्रायो मोक्तव्यं शुद्धबुद्धिभिः सततम् ।
वस्तुनि मधुवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ॥

भावार्थ—[illegible]

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम् ।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥ १५५ ॥

अन्वयार्थ—[ततः] [illegible] [प्रातः] [illegible] [प्रोत्थाय] [illegible] [तात्कालिकं] [illegible] [क्रियाकल्पम्] [illegible] [कृत्वा] [illegible] [प्रासुकैः] [illegible] [द्रव्यैः] [illegible] [यथोक्तं] [illegible] [जिनपूजां] [illegible] [निर्वर्तयेत्] [illegible]।

भावार्थ—[illegible]

[illegible]

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च ।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य ॥ १५६ ॥

अन्वयार्थ—[ततः] [illegible] [उक्तेन] [illegible] [विधिना] [illegible] [दिवसं] [illegible] [च] और [द्वितीयरात्रिं] [illegible] [नीत्वा] [illegible] [तृतीयदिवसस्य] [illegible] [अर्धं] [illegible] [च] [illegible] [प्रयत्नात्] [illegible] [अतिवाहयेत्] [illegible]।

व्यर्थ और असावधानीसे कार्य करनेमें जो एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसा होती है, उसका तो अवश्य ही त्याग होना चाहिये'।

अमृतत्वहेतुभूतं परमहिंसारसायनं लब्ध्वा ।
अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम् ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थौ—[अमृतत्वहेतुभूतं] अमृत अर्थात् मोक्षके कारणभूत [परमं] उत्कृष्ट [अहिंसारसायनं] अहिंसारूपी रसायनको [लब्ध्वा] प्राप्त करके [बालिशानाम्] अज्ञानी जीवोंके [असमञ्जसम्] असङ्गत वर्तावको [अवलोक्य] देखकर [आकुलैः] व्याकुल [न भवितव्यम्] नहीं होना चाहिये।

भावार्थ—किसी जीवको हिंसा करते हुए सुख सातायुक्त देखकर और आपको अहिंसाधर्म पालते हुए भी दुःखी जानकर अथवा आपको अहिंसाधर्म साधते देख व अन्य मिथ्यादृष्टियोंको हिंसामें धर्म ठहराते हुए व पुष्ट करते हुए देखकर धर्मात्मा पुरुषोंको चलायमान न होना चाहिये।

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति ।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थौ—[भगवद्धर्मः] परमेश्वरकथित-भगवानका कहा हुआ धर्म [सूक्ष्मः] बहुत बारीक है, अतएव [धर्मार्थं] 'धर्मके निमित्त [हिंसने] हिंसा करनेमें [दोषः] दोष [नास्ति] नहीं है'। [इति धर्ममुग्धहृदयैः] ऐसे धर्ममें मूढ अर्थात् भ्रमरूप हुए हृदयसहित [भूत्वा] हो करके [जातु] कदाचित् [शरीरिणः] शरीरधारी जीव [न हिंस्याः] नहीं मारने चाहिये।

भावार्थ—जहाँ हिंसा है वहाँ धर्म कदापि नहीं हो सकता, अतएव धर्मात्मा पुरुषोंके इस प्रकारके धोखेमें नहीं आना चाहिये, कि धर्मके निमित्त यज्ञसम्बन्धी हिंसा करनेमें पाप नहीं है। यदि यहाँपर कोई यह प्रश्न करे कि जैनधर्ममें भी तो मन्दिर बनवाना, प्रतिष्ठा कराना कहा गया है, जिसमें सूक्ष्म जीवोंकी विपुल हिंसा होती है, सो क्या इन मन्दिरादि कार्योंमें धर्म नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि यदि ये

---

१ त्रसस्थावरस्वरूपकथनम्:—

संसारी जीव दो प्रकारके हैं—एक त्रस दूसरे स्थावर। केवल एक स्पर्शन इन्द्रियवाले एकेन्द्रिय जीवोंको स्थावर कहते हैं। और द्वीन्द्रियादिक पंचेन्द्री पर्यन्त जीवोंको त्रस कहते हैं। स्थावरजीवोंके १ **पृथ्वीकाय**, २ **जलकाय** ३ **वनस्पतिकाय**, ४ **अग्निकाय**, ५ **वायुकाय**, ये ५ भेद हैं, और त्रसजीवोंके १ **द्वीन्द्रिय**, २ **त्रीन्द्रिय**, ३ **चतुरिन्द्रिय** और **पंचेन्द्रिय** ये ४ भेद हैं। जो स्पर्श और रसना (जीभ) युक्त हों, जैसे लट कौड़ी गिडोला आदि उन्हें द्वीन्द्रिय, जो स्पर्शन, रसना, घ्राण (नाक) युक्त हों जैसे कीड़ी मकोड़ी कानखजूरा आदि उन्हें ते इन्द्रिय, जो स्पर्शन रसना, घ्राण, नेत्रयुक्त हों जैसे भ्रमर पतंगादि उन्हें चतुरिन्द्रिय, और जो कानसंयुक्त हों जैसे मनुष्य, देव, पशु, पक्षी आदि उन्हें पंचेन्द्रिय कहते हैं। पुनः पंचेन्द्रियके सैनी और असैनी ये दो भेद हैं। जिन पंचेन्द्रिय जीवोंके मन पाया जाता है, उन्हें सैनी और जिनके मन नहीं पाया जाता, उन्हें असैनी कहते हैं। सैनी पंचेन्द्रिय चार प्रकारके हैं, देव, मनुष्य, नारक, तिर्यंच। इनमेंसे नरकोंके भूमिकी अपेक्षा सात भेद और तिर्यंचोंके जलचर, थलचर और नभचर ये तीन भेद हैं।

ऐसा [आकलय्य] विचार करके [जातु] कदाचित् भी [महासत्त्वस्य] जङ्गम बड़े जीवका [हिंसनं] घात [न कार्यं] नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—"अन्नादिकके आहारमें अनेक जीव मरते है, अतएव उनके बदले एक बड़े भारी जीवको मारकर खा लेना अच्छा है" ऐसा कुतर्क करना भी मूर्खतापूर्ण हैं। क्योंकि हिंसा प्राणघात करनेसे होती है, और एकेन्द्रिय जीवोंकी अपेक्षा पञ्चेन्द्रीके द्रव्यप्राण व भावप्राण अधिक होते हैं, ऐसा सिद्धान्त कारोंका मत है, इसलिये अनेक छोटे छोटे जीवोंसे भी बड़े प्राणीके घातमें अधिक हिंसा है। जब एकेन्द्रिय जीवके मारनेसे द्वीन्द्रिय जीवके मारनेमें ही असंख्यगुणा पाप है, तो पंचेन्द्रियकी हिंसाका तो कहना ही क्या?

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम्॥ ८३॥

अन्वयार्थौ—[अस्य] "इस [एकस्यएव] एक ही [जीवहरणेन] जीवघात करनेसे [बहूनाम्] बहुतसे जीवोंकी [रक्षा भवति] रक्षा होती है" [इति मत्वा] ऐसा मानकर [हिंस्रसत्त्वानाम्] हिंसक जीवोंका भी [हिंसनं] हिंसन [न कर्त्तव्यं] न करना चाहिये।

भावार्थ—"सर्प, विच्छू, सिंह, गेंड़ा, तेंदुआ आदिक हिंसक जीवोंको जो अनेक जीवोंके घातक हैं, मार डालनेसे उनके वध्य अनेक जीव बच जावेंगे, और उससे पापकी अपेक्षा पुण्यबंध अवश्य होगा ऐसा श्रद्धान नहीं करना चाहिये। क्योंकि, हिंसा जो करता है, वही उसके पापका भागी होता है, ऐसा शास्त्रसे सिद्ध है। फिर उसे मारकर हमको पापोपार्जन किसलिये करना चाहिये? दूसरे यह भी सोचना चाहिये कि संसारमें जो अनन्त जीव एक दूसरेके घातक है, उनकी चिन्ता हम कहाँतक कर सकते हैं?

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरु पापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः॥ ८४॥

अन्वयार्थौ—[बहुसत्त्वघातिनः] "बहुत जीवोंके घाती [अमी] ये जीव [जीवन्तः] जीते रहेंगे तो [गुरु पापम्] अधिक पाप [उपार्जयन्ति] उपार्जन करेंगे," [इति] इस प्रकारकी [अनुकम्पां कृत्वा] दया करके [हिंस्राः शरीरिणः] हिंसक जीवोंको [न हिंसनीयाः] नहीं मारना चाहिये।

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्॥
इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः॥ ८५॥

अन्वयार्थौ—[तु] और [बहुदुःखासंज्ञपिताः] "अनेक दुःखोंसे पीड़ित जीव [अचिरेण] थोड़े ही समयमें [दुःखविच्छित्तिम्] दुःखाभावको [प्रयान्ति] प्राप्त हो जावेंगे" [इति वासनाकृपाणीं] इस प्रकारकी वासनारूपी वा विचाररूपी तलवारको [आदाय] लेकर [दुःखिनोऽपि] दुःखी जीव भी [न हन्तव्याः] नहीं मारने चाहिये।

अन्वयार्थौ—[धनलवपिपासितानां] थोड़ेसे धनके प्यासे और [विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्] शिष्योंको विश्वास उत्पन्न करनेके लिये दिखलानेवाले [खारपटिकानाम्] खारपटिकोंके [झटितिघटचटकमोक्षं] शीघ्र ही घड़ेके फूटनेसे चिड़ियाके मोक्षके समान मोक्षको [नैव श्रद्धेयं] श्रद्धानमें नहीं लाना चाहिये।

भावार्थ—*खारपटिकोंके (कत्थेके रंगका कपड़ा पहिननेवाले एक प्रकारके संन्यासी) समान मोक्ष* मान करके किसी अन्य जीवका तथा अपना प्राणघात नहीं कर डालना चाहिये। क्योंकि खारपटिक शरीरके छूट जानेको ही मोक्ष मानते हैं।

दृष्ट्वापरं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम्।
निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि ॥ ८९ ॥

अन्वयार्थौ—[च] और [अशनाय] भोजनके लिये [पुरस्तात्] सन्मुखसे [आयान्तम्] आये हुए [अपरं] अन्य [क्षामकुक्षिम्] दुर्वल उदरवाले अर्थात् भूखे पुरुषको [दृष्ट्वा] देख करके [निजमांसदानरभसात्] अपने शरीरका मांस देनेकी उत्सुकतासे [आत्मापि] अपनेको भी [न आलभनीयः] नहीं घातना चाहिये।

भावार्थ—यदि कोई मांसभक्षी जीव आकर भोजनके लिये याचना करे, तो उसको दया करके स्वशरीरके मन्दमोहसे अपने शरीरका मांस नहीं दे देना चाहिये। क्योंकि एक तो मांसभक्षी जीव दानका पात्र ही नहीं है, दूसरे मांसका दान शास्त्रसे तथा धर्मसे बहिर्भूत और निंद्य है, तीसरे 'आत्मघाती महापापी' यह उक्ति जगत्प्रसिद्ध है।

को नाम विशति मोहं नयभङ्गविशारदानुपास्य गुरून्।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसा विशुद्धमतिः ॥ ९० ॥

अन्वयार्थौ —[नयभङ्गविशारदान्] नयभङ्गोंके जाननेमें प्रवीण [गुरून्] गुरुओंकी [उपास्य] उपासना करके [विदितजिनमतरहस्यः] जिनमतके रहस्योंका जाननेवाला [को नाम] ऐसा कौनसा [विशुद्धमतिः] निर्मल बुद्धिधारी है जो [अहिंसां श्रयन्] अहिंसाका आश्रय लेकर [मोहं] मूढ़ताको [विशति] प्राप्त होगा?

भावार्थ—जो पुरुष अहिंसा-धर्मको जान गया है, वह उपर्युक्त कुतर्कियोंके मिथ्यामतोंमें कदापि काल श्रद्धान नहीं कर सकता।

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥ ९१ ॥

अन्वयार्थौ—[यत्] जो [किमपि] कुछ भी [प्रमादयोगात्] प्रमाद कषायके योगसे [इदं] यह [असदभिधानं] स्वपरको हानिकारक अथवा अन्यथारूप वचन [विधीयते] विधिरूप किया जाता

भावार्थ— [illegible]

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम्।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः॥ १६९॥

अन्वयार्थौ— [ऐहिकफलानपेक्षा] [illegible], [क्षान्तिः] [illegible] [निष्कपटता] [illegible], [अनसूयत्वम्] [illegible], [अविषादित्वमुदित्वे] [illegible], [illegible] और [निरहङ्कारित्वम्] [illegible], [इति] इस प्रकार के [illegible] [हि] निश्चय करके [दातृगुणाः] दाताके गुण हैं।

भावार्थ— [illegible]

रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम्॥ १७०॥

अन्वयार्थौ— [यत्] जो [द्रव्यं] द्रव्य [रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं] राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदिक [न कुरुते] नहीं करता है, और [सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम्] [illegible] [तत् एव] [illegible] [देयं] [illegible]

भावार्थ— [illegible]

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरतसम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च॥ १७१॥

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थौ—[तु] और [इदम्] यह [तुरीयं] चौथा [अनृतं] असत्य [सामान्येन] सामान्यरूपसे [गर्हितम्] १ गर्हित, [अवद्यसंयुतम्] २ सावद्य अर्थात् पापसहित [अपि] और [अप्रियम्] ३ अप्रिय इस तरह [त्रेधा] तीन प्रकार [मतम्] माना गया है, [यत्] जो कि [वचनरूपं] वचनरूप [भवति] होता है।

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥ ९६ ॥

अन्वयार्थौ—[पैशून्यहासगर्भं] दुष्टता अथवा चुगलीरूप हास्ययुक्त [कर्कशम्] कठोर [असमञ्जसं] मिथ्याश्रद्धानपूर्ण [च] और [प्रलपितं] प्रलापरूप (बकवाद) तथा [अन्यदपि] और भी [यत्] जो [उत्सूत्रं] शास्त्रविरुद्ध वचन है, [तत्सर्वं] उस सबको [गर्हितं] गर्हित अर्थात् निंद्य वचन [गदितम्] कहा है।

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थौ—[यत्] जो [छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि] छेदने, भेदने, मारने, शोषणे, अथवा व्यापार, चोरी आदिके वचन है [तत्] सो सब [सावद्यं] पापयुक्त वचन हैं, [यस्मात्] क्योंकि ये [प्राणिवधाद्याः] प्राणिहिंसा आदि पाप [प्रवर्त्तन्ते] प्रवृत्त करते हैं।

भावार्थ—'अवद्य' शब्दका, अर्थ 'पाप' होता है, और जो वचन पापसहित होता है, उसे सावद्य कहते हैं।

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम्।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥ ९८ ॥

अन्वयार्थौ—[यत्] जो वचन [परस्य] दूसरे जीवको [अरतिकरं] अप्रीतिका करनेवाला, [भीतिकरं] भयका करनेवाला, [खेदकरं] खेदका करनेवाला, [वैरशोककलहकरम्] वैर शोक कलहका करनेवाला तथा जो [अपरमपि] और भी [तापकरं] आतापोंका करनेवाला हो [तत्] वह [सर्वं] सब [अप्रियं] अप्रिय [ज्ञेयं] जानना।

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थौ—[यत्] जिस कारणसे [अस्मिन्] इन [सर्वस्मिन्नपि] सब ही वचनोंमें [प्रमत्तयोगै-

और जिसकी अन्त समय [निरतिचारशीलैः] [illegible] [[illegible]] [illegible] [[illegible]] [illegible] [[illegible]] [illegible] है।

भावार्थ—[illegible]

[illegible]

इति [illegible]।

५—सल्लेखनाधर्मव्याख्यान।

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम्।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ॥ १७५ ॥

अन्वयार्थौ—[इयम्] [illegible] [एका] [illegible] [पश्चिमसल्लेखना एव] [illegible] [मे] [illegible] [धर्मस्वं] [illegible] [मया] [illegible] [समं] [illegible] [नेतुम्] [illegible] [समर्था] [illegible] [इति] [illegible] [भक्त्या] [illegible] [सततम्] [illegible] [भावनीया] [illegible]।

भावार्थ—'चोरी' करना भी हिंसा है, क्योंकि अन्य जीवके प्राण घात करनेके हेतुसे प्रमादका प्रादुर्भाव होते ही चोरी करनेवाले पुरुषके भावप्राणोंका घात होता है, और चोरीके प्रकट होजानेपर उसके द्रव्यप्राणोंका भी घात होता है, इसी प्रकार इष्ट वस्तुकी वियोगजनित पीड़ासे जिसकी चोरी हुई है, उस पुरुषके भावप्राणोंका घात होता है, और चौर्य्य वस्तुके हरण होनेसे द्रव्यप्राणोंका घात भी संभव है, क्योंकि चोरी की हुई वस्तु उसके द्रव्य प्राणोंकी पोषक थी।

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥ १०३ ॥

अन्वयार्थौ—[यः] जो [जनः] पुरुष [यस्य] जिस जीवके [अर्थान्] पदार्थोंको या धनको [हरति] हरण करता है, [सः] वह पुरुष [तस्य] उस जीवके [प्राणान्] प्राणोंको [हरति] हरण करता है, क्योंकि जगत्में [ये] जो [एते] ये [अर्था नाम] धनादिक पदार्थ प्रसिद्ध हैं, [एते] वे सब ही [पुसां] पुरुषोंके [बहिश्चराः प्राणाः] वाह्य प्राण [सन्ति] हैं।

भावार्थ—संसारी जीवोंके जिस प्रकार जीवनके कारणभूत इन्द्रिय श्वासोच्छ्वासादि अन्तःप्राण हैं, उसी प्रकार धन, धान्य, सम्पदा, बैल, घोड़ा, दास, दासी, मन्दिर, पृथ्वी आदिक जितने पदार्थ पाये जाते है, वे सब उनके जीवनका कारणभूत वाह्य प्राण हैं। इसलिये उनमेंसे एक भी पदार्थका वियोग होनेसे जीवोंको प्राणघात सदृश दुःख होता है, इसीसे कहते हैं चोरी साक्षात् हिंसा है।

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघटमेव सा यस्मात्।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ॥ १०४ ॥

अन्वयार्थौ—[हिंसायाः] हिंसाके [च] और [स्तेयस्य] चोरीके [अव्याप्तिः] अव्याप्तिदोष [न] नहीं है [सा सुघटामेव] वह हिंसा सुघट ही है, [यस्मात्] क्योंकि [अन्यैः] दूसरोंके द्वारा [स्वीकृतस्य] स्वीकृत किये [द्रव्यस्य] द्रव्यके [ग्रहणे] ग्रहण करनेमें [प्रमत्तयोगः] प्रमादका योग है।

भावार्थ—न्यायके प्रकरणमें कह चुके है कि जो लक्षण पदार्थके एकदेशमें व्याप्त हो, दूसरेमें नहीं हो, उसे अव्याप्ति कहते हैं। अव्याप्तिदोष "यत्र यत्र स्तेयं तत्र तत्र हिंसा" अर्थात् "जहाँ चोरी होती है, वहाँ हिंसा अवश्य होती है" इस लक्षणमें नहीं आता है। इसलिए यह लक्षण पदार्थमें सर्वदेशव्याप्त है, क्योंकि प्रमादयोगके विना चोरी होती ही नहीं और जिसमें प्रमादयोग है. वही हिंसा है।

नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्।
अपि कर्म्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात् ॥ १०५ ॥

१-निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम् ॥ ५७ ॥ रत्नकरंडश्रावकाचार

अर्थात्–धरा हुआ, पड़ा हुआ, भूला हुआ, और दूसरेका विना दिया हुआ पदार्थ ग्रहण नहीं करना और न दूसरेको देना, सो स्थूल चोरीत्याग-व्रत है।

भावार्थ—पुरुष स्त्री और नपुंसक ये तीन वेद हैं। इन तीन वेदोंकी रागभावरूप उत्तेजनासे मिथुन अर्थात् जोड़ेका सहवास होना अब्रह्म कहलाता है। अब्रह्ममें हिंसाका सब स्थानोंमें सद्भाव है; बल्कि यों कहना चाहिये, कि बिना हिंसाके अब्रह्म होता ही नहीं है, अब्रह्ममें हिंसा कई प्रकारसे घटित होती है, यथा—

१ स्त्रीके योनि, नाभि, कुच, काँख आदि स्थानोमें सम्मूर्छन पञ्चेन्द्रिय जीव सर्वदा उत्पन्न होते रहते हैं; और मैथुनमें उनके द्रव्यप्राणोंका घात अवश्य ही होता है।

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥ १०८ ॥

अन्वयार्थौ—[यद्वत्] जिस प्रकार [तिलनाल्यां] तिलोंकी नलीमें [तप्तायसि विनिहिते] तप्त लोहके डालनेसे [तिलाः] तिल [हिंस्यन्ते] नष्ट होते हैं—भुन जाते हैं, [तद्वत्] उसी प्रकार [मैथुने] मैथुनके समय [योनौ] योनिमें भी [बहवो जीवाः] बहुतसे जीव [हिंस्यन्ते] मरते हैं।

यदपि क्रियते किञ्चिन्मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥ १०९ ॥

अन्वयार्थौ—और [अपि] इसके अतिरिक्त [मदनोद्रेकात्] कामकी उत्कटतासे [यत् किञ्चित्] जो कुछ [अनङ्गरमणादि] अनङ्गरमणादि[1] [क्रियते] किया जाता है [तत्रापि] उसमें भी [रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्] रागादिकोंकी उत्पत्तिके वशसे [हिंसा] हिंसा [भवति] होती है।

भावार्थ—रागादिक भावोंकी तीव्रताके विना अनंगक्रीड़ाका होना असंभव है, और जहाँ रागादिकोंकी अधिकता हैं वहाँ हिंसा है, अतएव अनङ्गक्रीड़ा भी हिंसा है।

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात्।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ॥ ११० ॥

अन्वयार्थौ—[ये] जो जीव [मोहात्] मोहके कारण [निजकलमात्रं] अपनी विवाहिता स्त्रीमात्रको [परिहर्तुं] छोड़नेको [हि] निश्चय करके [न शक्नुवन्ति] समर्थ नहीं हैं, [तैः] उन्हें [निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं अपि] अवशेष स्त्रियोंका सेवन तो अवश्य ही [न] नहीं [कार्यम्] करना चाहिये[2]।

1-सहवास करनेके योग्य योनि आदि अंगोंसे भिन्न गुदा हस्त आदि अंगोंके द्वारा तथा गाय, भैंस आदि पशुओंमें जो कामक्रीड़ा की जाती है, उसे अनंगक्रीड़ा कहते हैं।

2-न च परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसंतोषनामापि ॥ ५९ ॥ —रत्नकरण्डश्रावकाचारे ॥

अर्थात्—जो मनुष्य पापके भयसे परस्त्रीके पास न जाता है और न दूसरेको जाने देता है, वह परस्त्रीत्यागी अथवा स्वदारसंतोष व्रती है। जाना अर्थात् सहवास करना।

मूर्छालक्षण अन्तरंग परिणामोंसे ही सम्बन्ध रखता है" ऐसा यदि कोई तर्क करे, तो उसका समाधान यह है कि मूर्छाकी उत्पत्तिमें बाह्य धन धान्यादि पदार्थ ही कारणभूत हैं, अतएव बाह्य पदार्थोंमें कारणमें कार्यके उपचारसे, परिग्रहत्व मुख्यतासे सिद्ध होता ही है और '**मूर्छा परिग्रहः**' यह लक्षण भी अबाधित रहता है।

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम्।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति॥ ११४॥

अन्वयार्थौ—[**एवं**] इस प्रकार [**परिग्रहस्य**] बाह्य परिग्रहकी [**अतिव्याप्तिः**] अतिव्याप्ति [**स्यात्**] होती है, [**इति चेत्**] ऐसा कदाचित् कहो तो [**एवं**] ऐसा [**न**] नहीं [**भवेत्**] हो सकता, [**यस्मात्**] क्योंकि [**अकषायाणां**] कषाय रहित अर्थात् वीतराग पुरुषोंके [**कर्मग्रहणे**] कार्मणवर्गणाके ग्रहणमें [**मूर्छा**] मूर्छा [**नास्ति**] नहीं है।

भावार्थ—"बाह्यपदार्थोंमें द्रव्यपरिग्रहत्व मान लेनेसे अतिव्याप्तिदोषका सद्भाव होता है, (क्योंकि, उक्त लक्षण लक्ष्यके अतिरिक्त अलक्ष्यमें भी पाया जाता है,) अर्थात् वीतरागी पुरुषोंके कार्मणवर्गणाके ग्रहणमें द्रव्यपरिग्रहत्व सिद्ध होता है" ऐसा यदि कोई प्रश्न करे, तो कहना चाहिये कि "वीतराग पुरुषोंके कार्मणवर्गणाके ग्रहणमें सर्वथा ही मूर्च्छा नहीं है और 'जहाँ जहाँ मूर्च्छा नहीं है, वहाँ वहाँ परिग्रह नहीं है, तथा जहाँ जहाँ परिग्रह है वहाँ वहाँ मूर्च्छा अवश्य है,' इस प्रकार इसकी व्याप्ति होती है, अतएव तुम्हारा दिया हुआ दोष नहीं लग सकता।

अतिसंक्षेपाद् द्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु॥ ११५॥

अन्वयार्थौ—[**सः**] वह परिग्रह [**अतिसंक्षेपात्**] अत्यन्त संक्षिप्ततासे [**आभ्यन्तरः**] अन्तरङ्ग [**च**] और [**बाह्यः**] बहिरङ्ग [**द्विविधः**] दो प्रकार [**भवेत्**] होता है, [**च**] और [**प्रथमः**] पहिला अन्तरङ्ग परिग्रह [**चतुर्दशविधः**] चौदह प्रकार [**तु**] तथा [**द्वितीयः**] दूसरा बहिरङ्ग परिग्रह [**द्विविधः**] दो प्रकार [**भवति**] होता है।

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः॥ ११६॥

अन्वयार्थौ—[**मिथ्यात्ववेदरागाः**] मिथ्यात्व[1], स्त्री[3], पुरुष[2], और नपुंसक[4] वेदके राग [**तथैव च**] इसी प्रकार [**हास्यादयः**] हास्यादिक अर्थात् हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा[5] ये [**षड् दोषाः**] छह दोष [**च**] और [**चत्वारः**] चार अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी, और संज्वलन ये चार [**कषायाः**] कषायभाव इस प्रकार [**आभ्यन्तरा ग्रन्थाः**] अन्तरङ्गके परिग्रह [**चतुर्दश**] चौदह हैं।

१–तत्त्वार्थका अश्रद्धान। २–पुरुषकी अभिलाषारूप परिणाम। ३–स्त्रीकी अभिलाषारूप परिणाम। ४–स्त्री पुरुष दोनोंकी अभिलाषारूप परिणाम। ५–ग्लानि।

हरिततृणाङ्कुरचारिणिमन्दा मृगशावके भवति मूर्छा ।
उन्दरनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा ॥ १२१ ॥

अन्वयार्थौ —[हरिततृणाङ्कुरचारिणि] हरे घासके अंकुर चरनेवाले [मृगशावके] हरिणके बच्चेमें [मूर्छा] मूर्छा [मन्दा] मन्द [भवति] होती है, और [सा एव] वही हिंसा [उन्दुरुनिकरोन्माथिनी] चूहोंके समूहका उन्मथन करनेवाले [मार्जारे] बिलावमें [तीव्रा] तीव्र [जायते] होती है ।

भावार्थ—हरिणका बच्चा एक तो स्वभावसे ही हरित तृणोंके पानेके अधिक शोधमें नहीं रहता, दूसरे जब उसे हरी घास मिल भी जाती है; तो थोड़ीसी ही आहट पाकर छोड़के भाग जाता है; परन्तु बिल्ली एक तो अपने खाद्यकी खोजमें स्वभावसे ही अधिक चेष्टित रहती है, दूसरे खाद्य मिल जानेपर वह उसमें इतनी अनुरक्त होती है कि सिरपर लट्ठ पड़ जावें तो भी उसे नहीं छोड़ती, अतएव हरिण और बिल्ली ये दो मन्द मूर्छा और तीव्र मूर्छाके अच्छे सरल और प्रकट उदाहरण हैं । इन ममत्वपरिणामोंको विशेषतासे ही परिग्रह विशेष होता है, ऐसा निश्चय जानना चाहिये ।

निर्बाधं संसिध्येत् कार्यविशेषो हि कारणविशेषात् ।
औधस्यखण्डयोरिह माधुर्य्यप्रीतिभेद इव ॥ १२२ ॥

अन्वयार्थौ —[औधस्यखण्डयोः] दूध और खाँड (शक्कर) में [माधुर्यप्रीतिभेद इव] मधुरताके प्रीतिभेदके समान [इह] इस लोकमें [हि] निश्चयकर [कारणविशेषात्] कारणकी विशेषतासे [कार्यविशेषः] कार्यका विशेषरूप [निर्बाधं] बाधा रहित [संसिध्येत्] भले प्रकार सिद्ध होता है ।

माधुर्यप्रीतिः किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्ये ।
सैवोत्कटमाधुर्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा ॥ १२३ ॥

अन्वयार्थौ—[किल] निश्चयकर [मन्दमाधुर्ये] अल्प मिठासवाले [दुग्धे] दूधमें [माधुर्यप्रीतिः] मिठासकी रुचि [मन्दा] थोड़ी [एव] ही [व्यपदिश्यते] कही जाती है, और [सा एव] वही मिठासकी रुचि [उत्कटमाधुर्ये] अत्यन्त मिठासवाली [खण्डे] खाँड़ अर्थात् शक्करमें [तीव्रा] अधिक कही जाती हैं ।

भावार्थ—जो पुरुष मिष्टरसका लोलुपी होता है, उसे दूधकी अपेक्षा शक्करमें अधिक प्रीति होती है; इसी प्रकार बाह्य परिग्रहोंका अल्प रुचिकर और विशेष रुचिकर कारण पाकर अन्तरंग परिणाम होते हैं। बहुत आरंभ परिग्रह व्यापार होता है, तो ममत्व भी अधिक होता है, और जो परिग्रह अल्प होता है, तो ममत्व भी अल्प होता है । हाँ, किसी किसी पुरुषके परिग्रहके अल्प होते हुए भी अभिलाषारूप ममत्वभाव अधिक होते हैं । परन्तु इसमें आगामी कालमें होनेवाले बाह्य परिग्रहका सङ्कल्प कारणभूत समझना चाहिये, परन्तु यदि कोई पुरुष परिग्रहको अंगीकार करता जावे और कहे कि मेरे अन्तरंगमें ममत्वभाव नहीं है तो उसे सर्वथा शठ समझना चाहिये, क्योंकि हिंसा तो परिणामोंके विना ही शरीरादिक बाह्य निमित्त

स्मरतीव्राभिनिवेशोऽनङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम् ।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयोः पञ्च ॥ १८६ ॥

अन्वयार्थौ—[स्मरतीव्राभिनिवेशः] [illegible], [अनङ्गक्रीडा] [illegible], [अन्यपरिणयनकरणम्] [illegible], [च] और [अपरिगृहीतेतरयोः] [illegible] [इत्वरिकयोः] [illegible] [गमने] [illegible] [पञ्च] पाँच अतीचार हैं ।

भावार्थ—[illegible]

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम् ।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रमाः पञ्च ॥ १८७ ॥

अन्वयार्थौ—[वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम्] [illegible] [कुप्यस्य] [illegible] [भेदयोः] [illegible] [अपि] [illegible] [परिमाणातिक्रमाः] [illegible] [पञ्च] पाँच अतीचार हैं ।

भावार्थ—[illegible]

ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानम् ।
स्मृत्यन्तरस्य गदिताः पञ्चेति प्रथमशीलस्य ॥ १८८ ॥

अन्वयार्थौ—[ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः] [illegible] [क्षेत्रवृद्धिः] [illegible]

[illegible]

भावार्थ—प्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया और लोभ सकल संयमको रोकते हैं, इसलिये इनके नाशसे ही मुनिपद प्राप्त होता है, और संज्वलन संयमके साथ दैदीप्यमान रहता है; तथा संज्वलन, क्रोध, मान, माया और लोभ तथा हास्यादिक छह व तीन वेदके नाशसे यथाख्यातचारित्रकी प्राप्ति होती है, इसलिये जहाँतक बने, इन सबका त्याग करना चाहिये और जो न बने, तो श्रावकधर्ममें मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी चतुष्क और अप्रत्याख्यानावरणी चतुष्कका त्याग तो अवश्य ही करना चाहिये ।

बहिरङ्गादपि सङ्गात् यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः ।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ॥ १२७ ॥

अन्वयार्थौ—[वा] तथा [तम्] उस बाह्यपरिग्रहको चाहे वह [अचित्तं] अचित्त हो [वा] अथवा [सचित्तं] सचित्त हो, [अशेषं] सम्पूर्ण ही [परिवर्जयेत्] छोड़ देना चाहिये [यस्मात्] क्योंकि [बहिरङ्गात्] बहिरंग [सङ्गात्] परिग्रहसे [अपि] भी [अनुचितः] अयोग्य अथवा निंद्य [असंयमः] असंयम [प्रभवति] होता है।

भावार्थ—बाह्य परिग्रहका त्याग किये विना संयम चारित्र नहीं हो सकता इसलिये सचित्त अचित्त दोनों प्रकारके बाह्य परिग्रहोंका सर्वथा त्याग करना ही कल्याणकारी है ।

योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादिः ।
सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम् ॥ १२८ ॥

अन्वयार्थौ—[अपि] और [यः] जो [धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादिः] धन, धान्य, मनुष्य, गृह, सम्पदादिक [त्यक्तुं] छोड़नेको [न शक्यः] समर्थ न हो, [सः] वह परिग्रह [अपि] भी [तनू] न्यून [करणीयः] करना चाहिये, [यतः] क्योंकि [निवृत्तिरूपं] त्यागरूप ही [तत्त्वम्] वस्तुका स्वरूप है ।

रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा ।
हिंसाविरतैस्तस्मात् त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥ १२९ ॥

अन्वयार्थौ—[यस्मात्] क्यों कि, [रात्रौ] रात्रिमें [भुञ्जानानां] भोजन करनेवालोंके [हिंसा] हिंसा [अनिवारिता] अनिवारित अर्थात् जिसका निवारण न हो सके [भवति] होती है, [तस्मात्] इसलिए [हिंसाविरतैः] हिंसाके त्यागियोंको [रात्रिभुक्तिः अपि] रात्रिको भोजन करना भी [त्यक्तव्या] त्याग करना चाहिये ।

भावार्थ—जो पुरुष हिंसाके त्यागी हैं, उन्हें रात्रिभोजनका त्याग अवश्य करना चाहिये ।

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसाम् ।
रात्रिं दिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति ॥ १३० ॥

अन्वयार्थौ—[अनिवृत्तिः] अत्याग भाव [रागाद्युदयपरत्वात्] रागादिक भावोंके उदयकी उत्कटतासे [हिंसाम्] हिंसाको [न अतिवर्तते] उल्लंघन करके नहीं वर्तते हैं, तो [रात्रिं दिवम्]

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः ।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ॥ १९२ ॥

अन्वयार्थौ—[अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं] [illegible] [संस्तरः] [illegible] [तथा] [illegible] [उत्सर्गः] [illegible] [स्मृत्यनुपस्थानम्] [illegible] [च] और [अनादरः] [illegible] [उपवासस्य] [illegible] [पञ्च] पांच [illegible] हैं ।

भावार्थ—[illegible] अनवेक्षिताप्रमार्जितादान, [illegible] अनवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तर, [illegible] अनवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग, [illegible] स्मृत्यनुपस्थान और [illegible] अनादर [illegible] हैं ।

आहारो हि सचित्तः सचित्तमिश्रः सचित्तसंबन्धः ।
दुष्पक्वोऽभिषवोऽपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य ॥ १९३ ॥

अन्वयार्थौ—[हि] [illegible] [सचित्तः आहारः] [illegible] [सचित्तमिश्रः] [illegible] [सचित्तसंबन्धः] [illegible] [दुष्पक्वः] [illegible] [च अपि] और [अभिषवः] [illegible] [अमी] ये [पञ्च] पांच [illegible] [षष्ठशीलस्य] [illegible] हैं ।

भावार्थ—[illegible] सचित्ताहार, [illegible] सचित्तमिश्राहार, [illegible] सचित्त-संबन्धाहार, [illegible] दुष्पक्वाहार, [illegible] अभिषवाहार [illegible] हैं ।

परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च ।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्यं चेत्यतिथिदाने ॥ १९४ ॥

अन्वयार्थौ—[परदातृव्यपदेशः] [illegible] [सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च] [illegible]

[illegible]

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः ॥
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसा स पालयति ॥ १३४ ॥

अन्वयार्थौ—[**वा**] अथवा [**बहुप्रलपितैः**] बहुत प्रलापसे [**किं**] क्या? [**यः**] जो पुरुष [**मनोवचनकायैः**] मन, वचन और कायसे [**रात्रिभुक्तिं**] रात्रि-भोजनको [**परिहरति**] त्याग देता है, [**सः**] वह [**सततम्**] निरन्तर [**अहिंसां**] अहिंसाको [**पालयति**] पालन करता है, [**इति सिद्धं**] ऐसा सिद्ध हुआ।

भावार्थ—जिस महाभाग्यने रात्रि-भोजनका सर्वथा त्याग कर दिया है, वही सच्चा अहिंसक है। रात्रि-भोजन त्यागके विना अहिंसाव्रतकी सिद्धि नहीं होती, अतएव कोई कोई आचार्य इसे अहिंसा अणुव्रतमें गर्भित करते हैं।

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः ।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण ॥ १३५ ॥

अन्वयार्थौ—[**इति**] इस प्रकार [**अत्र**] इस लोकमें [**ये**] जो [**स्वहितकामाः**] अपने हितके वांछक [**मोक्षस्य**] मोक्षके [**त्रितयात्मनि**] रत्नत्रयात्मक [**मार्गे**] मार्गमें [**अनुपरतं**] सर्वदा उपरत हुए विना [**प्रयतन्ते**] प्रयत्न करते हैं, [**ते**] वे पुरुष [**मुक्तिम्**] मुक्तिको [**अचिरेण**] शीघ्र ही [**प्रयान्ति**] गमन करते हैं।

भावार्थ—इस जीवका हित मोक्ष है, क्योंकि अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार सुख नहीं है; अतएव मोक्षकी प्राप्तिका उपाय करना परम कर्तव्य है। जैसे किसी नगरमें पहुँचनेके लिये उस नगरके सन्मुख निरन्तर गमन करना पड़ता है, उसी प्रकार मोक्षरूप नगरमें शीघ्र पहुँचनेके लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्ररूप मार्गके सन्मुख होकर चलना पड़ता है।

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि ।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥ १३६ ॥

अन्वयार्थौ—[**किल**] निश्चय करके [**परिधयः इव**] जिस तरह परिधियाँ [**नगराणि**] नगरोंकी रक्षा करती हैं उसी तरह [**शीलानि**] तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रत ये सप्त शील [**व्रतानि**] पाँचों अणुव्रतोंका [**पालयन्ति**] पालन करते अर्थात् रक्षा करते हैं, [**तस्मात्**] अतएव [**व्रतपालनाय**] व्रतोंका पालन करनेके लिये [**शीलानि**] सात शीलव्रतोंको [**अपि**] भी [**पालनीयानि**] पालन करना चाहिये।

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोप्यभिज्ञानैः ।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्तव्या विरतिरविचलिता ॥ १३७ ॥

[illegible] ॥ १७ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] ॥ १८ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

इति विरतो बहुदेशात् तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात् ।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसा विशेषेण ॥ १४० ॥

अन्वयार्थौ—[इति] इस प्रकार [बहुदेशात् विरतः] बहुत क्षेत्रका त्यागी [विमलमतिः] निर्मल बुद्धिवाला श्रावक [तत्कालं] उस नियमित कालमें [तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्] मर्यादाकृत क्षेत्रसे उत्पन्न हुई हिंसा विशेषके त्यागसे [विशेषेण] विशेषतासे [अहिंसां] अहिंसाव्रतको [श्रयति] अपने आश्रय करता है ।

भावार्थ—दिग्व्रतमें क्षेत्र बहुत होता है, उसमेंसे किञ्चित् कालकी मर्यादापूर्वक थोड़ासा क्षेत्र देशव्रतमें रक्खा जाता है, अतएव बाह्य क्षेत्रकी अपेक्षा पूर्वोक्त रीतिसे सकल संयमीपनेका सद्भाव होता है। जिस प्रकार दिग्व्रतमें हिंसाका सर्व त्याग है, उस प्रकार देशव्रतमें कदाचित् सर्व हिंसाका त्याग है, यही अंतर है ।

पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारगमनचौर्याद्याः ।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् ॥ १४१ ॥

अन्वयार्थौ—[पापर्द्धि-जय-पराजय-सङ्गर-परदारगमन-चौर्याद्याः] शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्री-गमन; चोरी आदिक [कदाचनापि] किसी समयमें भी [न चिन्त्याः] नहीं चिन्तवन करना चाहिये, [यस्मात्] क्योंकि इन अपध्यानोंका [केवलं] केवल [पापफलं] पाप ही फल है ।

भावार्थ—यह तीसरे अनर्थदंडव्रतका वर्णन है । विना प्रयोजन पाप करनेको अनर्थदंड कहते हैं—और विना प्रयोजन पाप करनेके त्यागको अनर्थदंडविरति कहते हैं । इसके पाँच भेद हैं । १ अपध्यान, २ पापोपदेश, ३ प्रमादचर्या, ४ हिंसादान और ५ दुःश्रुति, जिनमेंसे यह प्रथम अपध्यान कहा गया है ।

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम् ।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ॥ १४२ ॥

अन्वयार्थौ—[विद्या-वाणिज्य-मषी-कृषि-सेवा-शिल्पजीविनां] विद्या, व्योपार, लेखनकला, खेती, नौकरी, और कारीगरीसे जीविका करनेवाले [पुंसाम्] पुरुषोंको [पापोपदेशदानं] पापका उपदेश मिले ऐसा [वचनं] वचन [कदाचित् अपि] किसी समय भी [नैव] नहीं [वक्तव्यम्] बोलना चाहिये ।

भावार्थ—किसी पुरुषको आजीविकाके करनेवाले नाना प्रकारके कर्म करनेका उपदेश देना, इसको पापोपदेश नामक अनर्थदंड कहते हैं । क्योंकि इससे आपको लाभ कुछ नहीं होता, केवल पापबंध होता है ।

भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि ।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ॥ १४३ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ १०० ॥

अन्वयार्थ— [illegible]

भावार्थ— [illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ १०१ ॥

अन्वयार्थ— [illegible]

भावार्थ— [illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ १०२ ॥

अन्वयार्थ— [illegible]

भावार्थ— [illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ १०३ ॥

[illegible]

अन्वयार्थौ—[सर्वानर्थप्रथमं] सप्तव्यसनोंका प्रथम अथवा सम्पूर्ण अनर्थोंका मुखिया [शौचस्य मथनं] संतोपका नाश करनेवाला [मायायाः] मायाचारका [सद्म] घर और [चौर्यासत्यास्पदं] चोरी तथा असत्यका स्थान [द्यूतम्] जुआ [दूरात्] दूरसे ही [परिहरणीयं] त्याग कर देना चाहिये।

भावार्थ—जुआ खेलनेवाले खेलनेमें चोरी करते हैं और झूठ बोलते हैं, क्योंकि जब हारते हैं, तब जीतनेकी तृष्णा या मोहमें चोरी करते तथा असत्य बोलते हैं, और जब जीतते हैं, तब द्रव्यकी प्रचुरतासे वेश्या-गमनादि दुष्कर्म करते हैं, तथा झूठ बोलते और छिपकर चोरी करते हैं। सारांश द्यूतक्रीड़ामें पापबंध अधिक होता है, परंतु प्रयोजनकी सिद्धि कुछ भी नहीं होती, अतएव यह भी अनर्थदण्ड है।

एवं विधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥ १४७ ॥

अन्वयार्थौ—[यः] जो पुरुष [एवं विधम्] इस प्रकारके [अपरमपि] अन्य भी [अनर्थदण्डं] अनर्थदण्डोंको [ज्ञात्वा] जान करके [मुञ्चति] त्याग करता है, [तस्य] उसके [अनवद्यं] निर्दोष [अहिंसाव्रतं] अहिंसाव्रत [अनिशम्] निरन्तर [विजयम्] विजय [लभते] प्राप्त करता है।

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥ १४८ ॥

अन्वयार्थौ—[रागद्वेषत्यागात्] रागद्वेपके त्यागसे [निखिलद्रव्येषु] समस्त इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें [साम्यम्] साम्यभावको [अवलम्ब्य] अंगीकार कर [तत्त्वोपलब्धि मूलं] आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका मूल कारण [सामायिकं] सामायिक [बहुशः कार्यम्] अनेक वार करना चाहिये।

भावार्थ—एकरूप होकर स्वरुपमें प्राप्त होनेको 'समय' कहते हैं, तथा 'समय' जिसका प्रयोजन होता है उसे 'सामायिक' कहते हैं। उक्त प्रयोजनकी अर्थात् समयकी सिद्धि साम्यभावसे होती है, अतएव साम्यभावका नाम ही सामायिक है, और अपनेको सुख देनेवाली इष्ट वस्तुओंमें राग तथा दुःख देनेवाली अनिष्ट वस्तुओंमें द्वेपके त्यागको साम्यभाव कहते हैं। इस साम्यभावके होनेपर स्वरूपमें मग्न होना परम कर्तव्य है, कदाचित् यह न हो सके, तो शुभोपयोगरूप भक्ति व तत्त्वविचारमें प्रवर्तना चाहिये, अथवा सामायिकसम्बन्धी **नमस्कार, आवर्त, शिरोनति** आदि क्रियाकाण्डमें तत्पर होना चाहिये।

अङ्गोंकी भूस्पर्शकर मस्तकके नम्र करनेको **नमस्कार,** हाथ जोड़कर प्रदक्षिणा करनेको **आवर्त** और हाथ जोड़कर मस्तक नवानेको **शिरोनति** कहते हैं।

पहिले ईर्यापथ शोधनपूर्वक तीन आवर्त्त करके एक शिरोनति करे, पश्चात् '**णमो अरहंताणम्,**' आदि पाठ करके पूर्णतामें तीन आवर्त्त देकर एक शिरोनति करे, फिर कायोत्सर्ग करके तीन आवर्त्त देकर एक शिरोनति करे। तदुपरान्त '**थोस्सामि**' इत्यादि पाठ करके पूर्णतामें एक नमस्कार कर तीन आवर्त्त

[illegible]

१. [illegible]

२. [illegible]

[illegible]

[illegible]

३. [illegible]

१. [illegible]

> [illegible]
>
> [illegible]

[illegible]

२. [illegible]

> [illegible]
>
> [illegible]

[illegible]

> [illegible]
>
> [illegible]

अन्वयार्थौ—[प्रतिदिनम्] प्रतिदिन [आरोपितं] अंगीकार किये हुए [सामयिकसंस्कारं] सामायिकरूप संस्कारको [स्थिरीकर्तुम्] स्थिर करनेकेलिये [द्वयोः] दोनों [पक्षार्द्धयोः] पक्षोंके अर्द्धभागमें अर्थात् अष्टमी चतुर्दशीके दिन [उपवासः] उपवास [अवश्यमपि] अवश्य ही [कर्तव्यः] करना चाहिये ।

मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे ।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥ १५२ ॥

अन्वयार्थौ—[मुक्तसमस्तारम्भः] समस्त आरंभसे मुक्त होकर [देहादौ] शरीरादिकमें [ममत्वम्] आत्मबुद्धिको [अपहाय] त्यागकर [प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे] उपवासके पूर्वदिनके आधे भागमें [उपवासं] उपवासको [गृह्णीयात्] अंगीकार करे ।

भावार्थ—जिस दिन उपवास करना हो, उसके एक दिन पहिले दो पहरको समस्त आरंभसे ममत्व छोड़कर उपवासकी प्रतिज्ञा धारण करना चाहिये ।

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय ।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥ १५३ ॥

अन्वयार्थौ—पश्चात् [विविक्तवसतिं] निर्जन वसतिकाओंको [श्रित्वा] प्राप्त होकर [समस्तसावद्ययोगम्] सम्पूर्ण सावद्य योग [अपनीय] त्यागकर और [सर्वेन्द्रियार्थविरतः] सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे विरक्त होता हुआ [कायमनोवचनगुप्तिभिः] मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिसहित [तिष्ठेत्] स्थित होवे ।

धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम् ।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः ॥ १५४ ॥

अन्वयार्थौ—[विहितसान्ध्यविधिम्] कर ली गई है प्रातःकाल और संध्याकालीन सामयिकादि क्रिया जिसमें ऐसे [वासरम्] दिनको [धर्मध्यानासक्तः] धर्मध्यानमें लवलीन होता हुआ [अतिवाह्य] व्यतीत करके [स्वाध्यायजितनिद्रः] पठन-पाठनसे निद्राको जीतता हुआ [शुचिसंस्तरे] पवित्र संथारेपर [त्रियामां] रात्रिको [गमयेत्] गमावे अर्थात् पूर्ण करे ।

१-प्राचीन समयमें नगर ग्रामोंके बाहिर धर्मात्मा लोग मुनियोंके ठहरनेके लिये अथवा सामायिकादि करनेके लिये कुटी बनवा दिया करते थे उन्हें वसतिका कहते थे, कई नगरोंमें ये वसतिकायें अब भी पाई जाती हैं । २-अपध्यान, असत्कथन और असत्चेष्टा रूप पापसहित क्रिया । ३-जिस समय सावद्य क्रियाओंका त्याग करे, उस समय "अहं समस्तसावद्ययोगविरतोऽस्मि" अर्थात् "मैं सम्पूर्ण पापके योगोंका त्यागी होता हूँ" ऐसी प्रतिज्ञा करे । ४-मनमें विकल्प न करना और यदि करना, तो धर्मरूप करना । ५-मौनावलम्बी रहना अथवा धर्मरूप स्तोक (थोड़ा) बोलना । ६-शरीर निश्चल रखना, यदि कुछ चेष्टा करनी हो, तो, प्रमाणानुकूल क्षेत्रमें धर्मरूप करनी ।

[illegible] है।

३. [illegible]—[illegible] है।

४. [illegible] "[illegible]" [illegible] है।

५. [illegible]—[illegible]

[illegible] ॥

[illegible]

[illegible] ॥

अन्वयार्थौ—[यः] जो जीव [इति] इस प्रकार [परिमुक्तसकलसावद्यः सन्] सम्पूर्ण पाप क्रियाओंसे रहित होकर [षोड़शयामान्] सोलह प्रहरोंको [गमयति] गमाता है, अर्थात् व्यतीत करता है, [तस्य] उसके [तदानीं] उस समय [नियतं] निश्चयपूर्वक [पूर्णम्] सम्पूर्ण [अहिंसाव्रतं] अहिंसाव्रत [भवति] होता है।

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषाम् ।
भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः ॥ १५८ ॥
वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयम् ।
नाब्रह्म मैथुनमुचः सङ्गो नाङ्गेप्यमूर्छस्य ॥ १५९ ॥ (युग्मम्)

अन्वयार्थौ—[किल] निश्चय करके [अमीषाम्] इन देशव्रती श्रावकोंके [भोगोपभोगहेतोः] भोगोपभोगके हेतुसे [स्थावरहिंसा] स्थावरजीवोंकी हिंसा [भवेत्] होती है, किन्तु [भोगोपभोगविरहात्] भोगोपभोगके विरहसे अर्थात् त्यागसे [हिंसायाः] हिंसाका [लेशः अपि] लेश भी [न] नहीं [भवति] होता, और उपवासधारी पुरुषके [वाग्गुप्तेः] वचनगुप्तिके होनेसे [अनृतं] झूठ वचन [नास्ति] नहीं है, [समस्तादानविरहतः] सम्पूर्ण अदत्तादानके त्यागसे [स्तेयम्] चोरी [न] नहीं है, [मैथुनमुचः] मैथुनके छोड़ देनेवालेके [अब्रह्म] अब्रह्म [न] नहीं है, और [अङ्गे] शरीरमें [अमूर्छस्य] निर्ममत्वके होनेसे [सङ्गः] परिग्रह [अपि] भी [न] नहीं है।

भावार्थ—यद्यपि देशव्रती गृहस्थ त्रसजीवोंकी हिंसाका त्यागी होता है, तथा भोगोपभोगके निमित्तसे स्थावरजीवोंकी रक्षा नहीं कर सकता, परन्तु उपवासके दिन वह भी हिंसाका पूर्णरूपसे त्यागी हो जाता है, क्योंकि उस दिन भोगोपभोगके त्यागसे स्थावर जीवोंके वध होनेका भी कोई कारण नहीं रहता, और उपवासमें पूर्ण अहिंसाव्रतकी पालना होनेके अतिरिक्त शेष चारों व्रत (अनृत, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रह त्याग) भी स्वयमेव पलते हैं।

इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात् ।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् ॥ १६० ॥

अन्वयार्थौ—[इत्थम्] इस प्रकार [अशेषितहिंसः] सम्पूर्ण हिंसाओंसे रहित [सः] वह प्रोषधोपवास करनेवाला पुरुष [उपचारात्] उपचारसे या व्यवहारनयसे [महाव्रतित्वं] महाव्रतीपनेको [प्रयाति] प्राप्त होता है, [तु] परन्तु [चरित्रमोहे] चारित्रमोहके [उदयति] उदयरूप होनेके कारण [संयमस्थानम्] संयमके स्थानको अर्थात् प्रमत्तादिगुणस्थानको [न] नहीं [लभते] पाता।

भावार्थ—उपवासधारी पुरुषके पाँच प्रकारके पापोंमेंसे किसी प्रकारका भी पाप नहीं होता, अतएव महाव्रती न होनेपर भी उसे उतने समयतक उपचाररूप कथनसे महाव्रती कह सकते हैं, परन्तु प्रत्याख्यानावरणी तथा संज्वलन प्रकृतिका उदय उससे दूर नहीं हुआ है, इसलिये वह छट्ठे प्रमत्तगुणस्थानको नहीं पा सकता, तथा सकलसंयमघातनी प्रकृतिके उदयसे उक्त देशव्रती श्रावकको महाव्रती नहीं कह सकते, हाँ महाव्रतीके समान कह सकते हैं।

मार्गस्य मुक्ताहीनास्मानन्दर्शनं मया प्रजा ।
[illegible] शत्रा पार्श्वे यथा निपुणा सदा ॥ ९०७ ॥
ज्ञानिज्ञानिस्त्येव परिपूर्णात्मा: स्थिरतः सततम् ।
संस्पृष्टानुभवमयता [illegible] ॥ ९०८ ॥ [illegible]

अन्वयार्थः—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है।

भावार्थ—[illegible] है।

१. [illegible] है।

[illegible]

अण्डर पाये जाते हैं जैसे—शरीरमें हाथ पाँव आदि। एक अण्डरमें असंख्यात लोक परिमित **पुलवी** होते हैं। जैसे—हाथ पावोंमें अँगुली आदिक। एक **पुलवी**में असंख्यात लोक परिमित **आवास** होते हैं, जैसे—अंगुलियोंमें तीन भाग। एक **आवास**में असंख्यात लोक परिमित **निगोद शरीर** होते हैं, जैसे—अंगुलियोंके भागोंमें रेखायें और फिर एक **निगोदके शरीर**में सिद्धसमूहसे अनन्तगुणे जीव पाये जाते हैं, जैसे—रेखाओंमें अनेक प्रदेश।"

इस प्रकार एक साधारण हरित वनस्पतिके टुकड़ेमें संख्यातीत जीवोंका अस्तित्व रहता है जिनका कि जिह्वाके थोड़ेसे स्वादके लिये विषयी जीव घात कर डालते हैं। विचारवान् पुरुषोंको ऐसा करना सर्वथा अनुचित है।

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम्।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित् ॥ १६३ ॥

अन्वयार्थौ—[**च**] और [**प्रभूतजीवानाम्**] बहुत जीवोंका [**योनिस्थानं**] उत्पत्तिस्थानरूप [**नवनीतं**] नवनीत अर्थात् मक्खन [**त्याज्यं**] त्याग करने योग्य है, [**वा**] अथवा [**पिण्डशुद्धौ**] आहारकी शुद्धतामें [**यत्किञ्चित्**] जो थोड़ा भी [**विरुद्धम्**] विरुद्ध [**अभिधीयते**] कहा जाता है, (तत्) वह [**अपि**] भी त्याग करने योग्य है।

भावार्थ—दहीमेंसे निकाले हुए मक्खनका यदि तत्काल ही अग्निपर तपाकर घृत नहीं बना लिया जावे, तो वह मक्खन दो ही मुहूर्तके पश्चात् अनन्त जीवरूप हो जाता है, अर्थात् उसमें अपरिमित जीव पैदा हो जाते हैं। इसलिये व्रती गृहस्थको इसका त्याग अवश्य ही करना चाहिये। आचार-शास्त्रोंमें जिन पदार्थको अभक्ष्य बतलाया है, उनका भी त्याग करना चाहिये। जैसे—चर्म-स्पर्शित घृत, तैल, जल हिंग्वादि तथा दुग्ध, दधि, मिष्टान्न, अनछाना पानी, बिना जाना फल, घुना बीधा अन्न, बाजारका आटा, अचार (अथाना—संधाना) मुरब्बा आदि।

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्याः।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ॥ १६४ ॥

अन्वयार्थौ—[**धीमता**] बुद्धिवान् पुरुष करके [**निजशक्तिम्**] अपनी शक्तिको [**अपेक्ष्य**] देखकर [**अविरुद्धाः**] अविरुद्ध [**भोगाः**] भोग [**अपि**] भी [**त्याज्याः**] त्याग देने योग्य हैं, और जो [**अत्याज्येषु**] उचित भोगोपभोगोंके त्याग न हो सकें तो उनमें [**अपि**] भी [**एकदिवानिशोपभोग्यतया**] एक दिन रातकी उपभोग्यतासे [**सीमा**] मर्यादा [**कार्या**] करना चाहिये।

१-कच्चा दूध अन्तर्मुहूर्तके उपरान्त अपेय (नहीं पीने योग्य) है। २-चौबीस घंटेके पश्चात् दही अभक्ष्य है। ३-अधिक समय बीत जानेसे मिष्टान्नमें सूक्ष्म लट (जीव विशेष) पड़ जाते हैं। ४-जिसमेंसे सूर्यका प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई दे, ऐसे सघन (गाढ़े) कपड़ेके छत्तीस अंगुल लम्बे और चौबीस अंगुल चौड़े छन्ने (नातने) को दुहरा करके जल छानना चाहिये। छने हुए पानीकी मर्यादा यदि बढ़ाना हो, तो उसे उष्ण (गर्म) करके अथवा लवंगादि तीक्ष्ण पदार्थ डालके बढ़ा सकते हैं। नहीं तो प्रत्येक मुहूर्तके पश्चात् छानके पीना चाहिये।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान् ।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात् ॥ १६६ ॥

अन्वयार्थौ—[यः] जो गृहस्थ [इति] इस प्रकार [परिमितभोगैः] मर्यादारूप भोगोंसे [सन्तुष्टः] सन्तुष्ट होकर [बहुतरान्] अधिकतर [भोगान्] भोगोंको [त्यजति] छोड़ देता है, [तस्य] उसका [बहुतरहिंसाविरहात्] बहुत हिंसाके त्यागसे [विशिष्टा अहिंसा] उत्तम अहिंसाव्रत [स्यात्] होता है ।

भावार्थ—जो श्रावक पूर्वोक्त प्रकारसे भोगोपभोगोंका त्याग निरन्तर किया करता है, उसके लोभ कषायके त्यागसे संतोषका आविर्भाव होता है, और भोगोंके कारण होनेवाली हिंसाका उन भोगोपभोगोंके साथ सहज ही त्याग होता है । इस प्रकार अहिंसाव्रतका उत्कर्ष होता है ।

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय ।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्तव्योऽवश्यमतिथये भागः ॥ १६७ ॥

अन्वयार्थौ—[दातृगुणवता] दाताके गुणयुक्त गृहस्थकरके [जातरूपाय अतिथये] दिगम्बर अतिथिके लिये [स्वपरानुग्रहहेतोः] आप और दूसरेके अनुग्रहके हेतु [द्रव्यविशेषस्य] विशेषद्रव्यका अर्थात् देने योग्य वस्तुका [भागः] भाग [विधिना] विधिपूर्वक [अवश्यम्] अवश्य ही [कर्तव्यः] कर्तव्य है ।

भावार्थ—"विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः" तत्त्वार्थाधिगमके इस सूत्रानुसार विधि, दाता, द्रव्य, पात्रकी विशेषतासे दानमें विशेषता होती है, अतएव उत्तम दाताको चाहिये कि उत्तम पात्रको उत्तम आहार उत्तम विधिपूर्वक देवे । इस प्रकारका दान अपने और दूसरेके उपकारके लिये होता है, क्योंकि दाताको उत्तम पात्रके दानसे विशिष्ट पुण्यका बंध होता है, तथा पात्रको अर्थात् लेनेवालेको ज्ञान संयमादिकी वृद्धिरूप लाभ होता है, और ये ही दोनोंके उपकार हैं । आये हुए अभ्यागतके निमित्त प्रतिदिन भोजनादिकका दान करके पश्चात् आप भोजन करे, यह श्रावकका नित्यकर्म है । इसे **अतिथिसंविभाग** कहते हैं ।

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च ।
वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥ १६८ ॥

अन्वयार्थौ—[च] और [संग्रहम्] प्रतिग्रहण, [उच्चस्थानं] ऊँचा स्थान देना, [पादोदकम्] चरण धोना, [अर्चनं] पूजन करना, [प्रणामं] नमस्कार करना, [वाक्कायमनःशुद्धिः] मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, रखना [च] और [एषणशुद्धिः] भोजनशुद्धि, आचार्यगण इस प्रकार [विधिम्] नवधाभक्तिरूप विधिको [आहुः] कहते हैं ।

१–उत्पन्न होनेके समय जिस रूपमें था, वैसा । अर्थात् दिगम्बर । अथवा पात्रके उत्तम गुणोंसे युक्त अतिथि ।
२ जिनका आगमन तिथिके नियम रहित होता है, अर्थात् जो नियमित तिथिको नहीं आते ऐसे अभ्यागत ।
३–नमस्कारपूर्वक अपने गृहमें अतिथिका प्रवेश करना । ४–विनयसेवायुक्त परिणाम रखना । ५–विनयपूर्वक बोलना । ६–शरीरसे यथायोग्य सेवा करना ।

[illegible]

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥ २११ ॥

अन्वयार्थौ—[असमग्रं] असम्पूर्ण [रत्नत्रयम्] रत्नत्रयको [भावयतः] भावन करनेवाले पुरुषके [यः] जो [कर्मबन्धः] शुभकर्मका बंध [अस्ति] है, [सः] वह बंध [विपक्षकृतः] [illegible] [अवश्यं] अवश्य ही [मोक्षोपायः] मोक्षका उपाय है, [बन्धनोपायः] बंधका उपाय [न] नहीं।

भावार्थ—[illegible]

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१२ ॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१३ ॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१४ ॥

[त्रिभिर्विशेषकम्]

अन्वयार्थौ—[illegible]

१ [illegible]

विशेष—ऊपर कह चुके हैं कि पात्रको जिस भावसे दान दिया जाता है, दाता वैसे ही फलका भागी होता है, और यह पात्रव्यवहार दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणोंकी अपेक्षासे होता है; सो इनके धारण करनेवालोंको तो यथायोग्य आदर सत्कारसे देना चाहिये और इनके अतिरिक्त अन्य दुःखी पीड़ित जनोंको दयाभावसे दान देना चाहिये[1]।

हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ॥ १७२ ॥

अन्वयार्थौ—[**यतः**] क्योंकि [**अत्र दाने**] यहाँ दानमें [**हिंसायाः**] हिंसाका [**पर्य्यायः**] पर्याय [**लोभः**] लोभ [**निरस्यते**] नाश किया जाता है, [**तस्मात्**] अतएव [**अतिथिवितरणं**] अतिथिदान [**हिंसाव्युपरमणमएव**] हिंसाका त्याग ही [**इष्टम्**] कहा है।

भावार्थ—लोभका त्याग किये विना दान नहीं हो सकता, और पहले कह आये हैं कि लोभ हिंसाका रूप है, अतएव दानमें लोभका त्याग होनेसे हिंसाका भी त्याग सिद्ध होता है।

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति ॥ १७३ ॥

अन्वयार्थौ—[**यः**] जो गृहस्थ [**गृहमागताय**] घरपर आये हुए [**गुणिने**] संयमादि गुणयुक्तको और [**मधुकरवृत्त्या**] भ्रमरके समान वृत्तिसे [**परान्**] दूसरोंको [**अपीडयते**] पीड़ा नहीं देनेवाले [**अतिथये**] अतिथि साधुके लिये [**न वितरति**] भोजनादिक नहीं देता है, [**सः**] वह [**लोभवान्**] लोभी [**कथं**] कैसे [**न हि**] नहीं [**भवति**] है।

भावार्थ—जैसे भ्रमर (भौंरा) फूलोंको किसी प्रकारकी हानि न पहुँचाकर केवल उनकी सुगन्धि लेता है, उसी प्रकार रत्नत्रयमंडित परम वैरागी मुनि दाताको किसी प्रकार कष्ट न पहुँचाकर किंचिन्मात्र आहार करते हैं, सो ऐसे मुनिको भी जो श्रावक आहार नहीं देता है, वह अवश्य लोभी है।

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ॥ १७४ ॥

अन्वयार्थौ—[**आत्मार्थं**] अपने लिये [**कृतम्**] बनाये हुए [**भक्तम्**] भोजनको [**मुनये**] मुनिके लिये [**ददाति**] देवे, [**इति**] इस प्रकार [**भावितः**] भावपूर्वक [**अरतिविषादविमुक्तः**] अप्रेम

---

१ उक्तं च रयणसारे—सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणं फलाण सोहं वा।
लोहीणं दाणं जइ विमाणसोहा सवस्स जाणेह ॥
संस्कृतच्छाया—सत्पुरुषाणां दानं कल्पतरूणां फलानां शोभा वा।
लोभिनां दानं यथा विमानशोभा शवस्य जानीहि ॥

अर्थात्—सत्पुरुषोंका दान देना तो कल्पवृक्षके समान है, जिससे शोभा होती है, और मनोवांछित फल भी प्राप्त होते हैं, विपरीत इसके लोभीका दान देना मुर्देके विमान समान है, जिससे शोभा तो होती है, परन्तु गृहस्वामीको छाती कूटनी पड़ती है। अर्थात् लोभी पुरुष जब दान देता है, तब उसकी प्रशंसा तो होती है, परन्तु उस दानका फल कुछ भी नहीं होता।

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि ।
इति भावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम् ॥ १७६ ॥

अन्वयार्थौ—[अहं] मैं [मरणान्ते] मरणकालमें [अवश्यम्] अवश्य ही [विधिना] शास्त्रोक्त विधिसे [सल्लेखनां] समाधिमरण [करिष्यामि] करूँगा, [इति] इस प्रकार [भावनापरिणतः] भावनारूप परिणति करके [अनागतमपि] मरणकाल आनेके पहिले ही [इदं] यह [शीलम्] सल्लेखनाव्रत [पालयेत्] पालना चाहिये ।

भावार्थ—सल्लेखना अर्थात् संन्यासका धारण अन्तकालमें होता है, परन्तु इस जीवकी आयु समय प्रतिसमय घटती ही जाती है, जिसके आखिरको मरना निश्चित ही है, इस कारण मृत्युके पहिले ही ऐसी प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि "मैं मरण समयमें अवश्य ही संन्यास धारण करूँगा"। इस प्रतिज्ञाकी अपेक्षासे उक्त उल्लेखनाव्रत पहिलेसे ही पालित समझा जावेगा ।

मरणेऽवश्यं भाविनि कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे ।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥ १७७ ॥

अन्वयार्थौ—[अवश्यं] अवश्य ही [भाविनि] होनहार [मरणे 'सति'] मरणके होते हुए [कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे] कषाय सल्लेखनाके कृश करने मात्र व्यापारमें [व्याप्रियमाणस्य] प्रवर्त्तमान पुरुषके [रागादिमन्तरेण] रागादिक भावोंके विना [आत्मघातः] आत्मघात [नास्ति] नहीं है ।

भावार्थ—शरीर स्वभावके विकाररूप चिह्नोंसे तथा शुभाशुभसूचक निमित्तज्ञानकी शक्तिसे अपना मरणकाल जब निश्चित कर लिया है, तब ही संन्यासमरण अंगीकार किया जाता है और इसलिये इस समाधि अवस्थामें राग द्वेष मोहादिकोंका अभाव होनेसे संन्यास लेनेपर आत्मघातका दोष नहीं लग सकता। जिस प्रकार कोई बड़ा व्यापारी अपने घरमें आग लग जानेसे पहिले तो उसे बुझानेका प्रयत्न करता है, परन्तु जब बुझना अशक्य समझ लेता है, तब वह ऐसी युक्तिको काममें लाता है। कि जिससे अपने हुँडी-पर्त्रीके व्यवहार-वचनमें किसी प्रकार बट्टा नहीं लगने पावे, ठीक इसी प्रकार शरीरमें व्याधि उत्पन्न होनेपर मनुष्य उसे निर्दोष रीतिसे शमन करनेके लिये औषधादिक सेवन करता है, परन्तु जब व्याधिसे मुक्त होना अशक्य समझ लेता हैं, तब संन्यास धारण करता हैं; जिससे अपना धर्म न बिगड़ने पावे । भाव यह कि अन्तकाल निश्चित करके धर्मके रक्षार्थ संन्यास धारण करना आत्मघात नहीं है ।

यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः ।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ॥ १७८ ॥

अन्वयार्थौ—[हि] निश्चय करके [कषायाविष्टः] क्रोधादि कषायोंसे घिरा हुआ [यः] जो पुरुष [कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः] श्वासनिरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्रादिकोंसे अपने [प्राणान्]

भावार्थ— [illegible]

ननु कथमेवं सिद्ध्यति देवायुःप्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः ।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ॥ २१९ ॥

अन्वयार्थौ— [illegible]

भावार्थ— [illegible]

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥ २२० ॥

अन्वयार्थौ— [illegible]

भावार्थ— [illegible]

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि ।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः ॥ २२१ ॥

अवस्थामें धर्मसे पराङ्मुख रहते हैं, अर्थात् जिन्होंने व्रत नियमादि धर्माराधना नहीं की है, वे पुरुष अन्त कालमें धर्मके सम्मुख अर्थात् संन्यासयुक्त कभी नहीं हो सकते। क्योंकि '**चिरंन्तनाभ्यासनिबन्धनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः**" चिरकालके अभ्याससे प्रेरित की हुई बुद्धि गुण और दोषोंमें जाती है। जो वस्त्र पहिलेसे उज्ज्वल होता है, उसपर मनोवांछित रंग चढ़ सकता है, परन्तु जो वस्त्र पहिलेसे मलीन होता है, उसपर रंग कभी नहीं चढ़ाया जा सकता। अतएव संन्यासमरण वही धारण कर सकता है, जो पहिली अवस्थासे ही धर्मको आराधनामें दत्तचित्त रहा हो। हाँ, कहीं कहीं ऐसा भी देखा गया है कि जिस पुरुषने जन्मभर धर्मसेवामें चित्त नहीं लगाया था, वह भी संन्यासपूर्वक मरण करके स्वर्गादि सुखोंको प्राप्त हो गया। यह **काकतालीयन्यायवत्**, अति कठिन है, इसलिये जिनवचनोंके श्रद्धानी पुरुषोंको उक्त शंकाको अपने चित्तमें कभी स्थान न देना चाहिये।

संन्यासार्थी पुरुषको चाहिये, कि जहाँतक बने; जिनभगवान्‌की जन्मादि तीर्थ-भूमियोंका आश्रय ग्रहण करे और यदि तीर्थभूमिकी प्राप्ति न हो सके, तो मन्दिर अथवा संयमी जनोंके आश्रयमें रहे। संन्यासार्थी तीर्थके जाते समय सबसे क्षमाकी याचना करे और आप भी मन वचन कायपूर्वक सब प्राणियोंको क्षमा करे। अन्त समय क्षमा करनेवाला संसारका पारगामी होता है, और वैर विरोध रखनेवाला अर्थात् क्षमा न रखनेवाला अनन्त संसारी होता है। संन्यासार्थी पुरुषको पुत्र कलत्रादिक कुटुम्बियोंसे तथा सांसारिक सम्पदाओंसे सर्वथा मोह छोड़ देना चाहिये, परन्तु उत्तम साधक पुरुषोंकी सहायता अवश्य लेनी चाहिये, क्योंकि साधर्मी तथा आचार्योंकी सहायतासे अशुभ कर्म यथेष्ट विघ्न करनेको समर्थ नहीं हो सकते। व्रतके अतीचारोंको साधर्मियोंके अथवा आचार्यके सम्मुख प्रगट कर निःशल्य होकर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त शास्त्रमें कही हुई विधियोंसे शोधन करना चाहिये।

निर्मल भावरूप अमृतसे सिंचित समाधिमरणके लिये पूर्व तथा उत्तर दिशाकी ओर मस्तक आरोपित करे. यदि श्रावक महाव्रतकी याचना करे, तो निर्यापक आचार्यको उचित है कि उसे महाव्रत देवे। महाव्रतके ग्रहणमें नग्न होना चाहिये, अर्जिकाको भी अन्तकाल उपस्थित होनेपर एकान्त स्थानमें वस्त्रोंका त्याग करना उचित कहा है। साँथरेके समय नाना प्रकारके योग्य आहार दिखाकर भोजन करावे, और जो उसे अज्ञानतावश भोजनमें आसक्त समझे, तो परमार्थज्ञाता आचार्यको चाहिये कि उसे अपने प्रभावशाली व्याख्यानके द्वारा इस प्रकार समझावे कि—

हे जितेन्द्रिय, तू भोजन शयनादिरूप कल्पित पुद्गलोंको अब भी उपकारी समझता है और यह जानता है कि इनमेंसे कोई पुद्गल ऐसे भी है, जो मैंने भोगे नहीं है। यह बड़े आश्चर्यकी बात है। भला सोच तो सही, कि ये मूर्तिमन्त पुद्गल तुझ अरूपीमें किसी प्रकार मिल भी सकते हैं। तूने इन्हें केवल इन्द्रियोंसे ग्रहणपूर्वक अनुभवनकर यह जान रक्खा है कि मैं ही इनका भोग करता हूँ। सो हे दूरदर्शी, अब इस भ्रान्त बुद्धिको सर्वथा छोड़ दे और आत्मतत्त्वमें लवलीन हो। यह वह समय है, जिसमें ज्ञानी जीव शुद्धतामें सावधान रहते हैं, और चिन्तवन करते हैं कि मैं अन्य हूँ और वे पुद्गल मुझसे सर्वथा भिन्न अन्य ही पदार्थ है, इसलिये हे महाशय। पर द्रव्योंसे मोह छोड़ करके अपने आत्मामें स्थिर

१–चन्द्रप्रभचरिते प्रथमसर्गे। २–ताड़ वृक्षसे अचानक फलका टूटना और उड़ते हुए काकको आकाशमें ही प्राप्त हो जाना जिस प्रकार कठिन है, उसी प्रकार संस्कारहीन पुरुषका समाधिमरण पाना कठिन है।

[illegible] — [illegible]

कृतकृत्यः परमार्थे परस्थानं सकलविगतविषयात्मा ।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥ ३५४ ॥

अन्वयार्थ—[कृतकृत्यः] [illegible] [सकलविगतविषयात्मा] [illegible] [परमानन्दनिमग्नः] [illegible] [ज्ञानमयः] [illegible] [परमात्मा] [illegible] [परमार्थे] [illegible] [सदैव] [illegible] [नन्दति] [illegible]

एवं [illegible] [illegible] ।
[illegible] ॥ ३५५ ॥

अन्वयार्थ—[illegible]

[illegible]

अन्वयार्थ—[illegible]

[illegible]

था ? ऐसे और भी असंख्य उदाहरण शास्त्रोंमें मिलेंगे, जिनमें दुस्सह उपसर्गोंका सहन करके अनेक साधुओंने स्वार्थ सिद्धि की है, क्या तेरा यह कर्तव्य नहीं है कि उनका अनुकरण करके जीवित धनादिकोंमें निर्वांछक हो, अन्तर बाह्य परिग्रहके त्यागपूर्वक साम्यभावसे निरुपाधिमें स्थिर हो, आनन्दामृतका पान करे ? इसके पश्चात् अर्थात् उपरि लिखित रीतिके उपदेशसे कषाय कृश करते हुए रत्नत्रयभावनारूप परिणमनसे पंचनमस्कारमंत्र स्मरणपूर्वक प्राणविसर्जन करना चाहिये। यही संन्यासमरणकी संक्षेप विधि है।

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम् ॥ १७९ ॥

अन्वयार्थौ—[यतः] क्योंकि [अत्र] संन्यास मरणसे [हिंसायाः] हिंसाके [हेतवः] हेतुभूत [कषायाः] कषाय [तनुताम्] क्षीणताको [नीयन्ते] प्राप्त होते हैं, [ततः] उस कारणसे [सल्लेखनामपि] संन्यासको भी आचार्य गण [अहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं] अहिंसाकी सिद्धिके लिये [प्राहुः] कहते हैं।

भावार्थ—जहाँ कषायके आवेशसहित मन, वचन, कायके योगोंकी परणति होती है, वहाँ ही हिंसा है और कषायके कृश करनेको सल्लेखना कहते हैं, इस कारण सल्लेखनामें कषाय क्षीण होनेसे अहिंसाकी सिद्धि होती है।

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः ॥ १८० ॥

अन्वयार्थौ—[यः] जो [इति] इस प्रकार [व्रतरक्षार्थं] पंचाणुव्रतोंकी रक्षाके लिये [सकलशीलानि] समस्त[1] शीलोंको [सततं] निरन्तर [पालयति] पालता है, [तम्] उस पुरुषको [शिवपदश्रीः] मोक्षपदकी लक्ष्मी [उत्सुका] अतिशय उत्कण्ठित [पतिंवरा इव] स्वयंवरकी[2] कन्याके समान [स्वयमेव] आप ही [वरयति] स्वीकार करती है, अर्थात् प्राप्त होती है।

भावार्थ—स्वयंवर मंडपमें जिस प्रकार कन्या आप ही अपने योग्य उत्तम पतिका शोध करके उसके कंठमें वरमाला डाल देती है, उसी प्रकार इस लोकमंडपमें मुक्तिरूपी कन्या अपने योग्य व्रतादिसंयुक्त जीवको स्वयं अपना स्वामी बना लेती है अर्थात् वह जीव मुक्त हो जाता है।

अतिचाराः सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पञ्च पञ्चेति।
सप्ततिरमी यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनो हेयाः ॥ १८१ ॥

१—तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रत और एक अन्तसल्लेखना। २—पूर्वकालमें राजादिक वैभवशाली पुरुष अपनी कन्याओंके विवाहके लिये स्वयम्वरमंडप बनाते थे और उसमें देश विदेशके राजाओंको बुलाते थे, उनमेंसे राजकन्या जिसको अच्छा समझती, उसे वरमाला पहिनाकर अपना पति बना लेती थी।

छेदनताडनबन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य।
पानान्नयोश्च रोधः पञ्चाहिंसाव्रतस्येति ॥ १८३ ॥

अन्वयार्थौ—[अहिंसाव्रतस्य] अहिंसा व्रतके [छेदनताडनबन्धाः] छेदना, ताड़न करना, बाँधना, [समधिकस्य] अतिशय अधिक [भारस्य] बोझेका [आरोपणं] लादना, [च] और [पानान्नयोः] अन्न पानीका [रोधः] रोकना अर्थात् न देना [इति] इस प्रकार [पञ्च] पाँच अतीचार हैं।

भावार्थ—किसी जीवका **छेदन** अर्थात् उसके हस्त पादादि अङ्ग अथवा नाक, कान आदि उपाङ्ग काटना व छेदना, **ताड़न** लकड़ी कोड़ा आदिसे मारना, **बंधन** स्वेच्छापूर्वक गमन करनेवालोंका रस्सी आदिसे बाँधकर रोक रखना, **अतिभारारोपण** जीवधारी जितना बोझा उठा सके उससे अधिक लाद देना और **अन्नपाननिरोध** अर्थात् खाने पीनेको न देकर उन्हें भूखे प्यासे रखना, ये अहिंसाव्रतके पाँच अतीचार हैं। अर्थात् इनसे व्रतका एकोदेश भंग होकर अहिंसाव्रतमें दोष लगता है।

मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती।
न्यासापहारवचनं साकारमन्त्रभेदश्च ॥ १८४ ॥

अन्वयार्थौ—[मिथ्योपदेशदानं] झूठा उपदेश देना, [रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती] एकान्तकी गुप्तबातोंका प्रकट करना, झूठा लिखना, [न्यासापहारवचनं] धरोहरके (थातीके) हरण करनेका वचन कहना [च] और [साकारमन्त्रभेदः] कायकी चेष्टाओंसे जानकर दूसरेका अभिप्राय प्रकट कर देना, ये पाँच सत्याणुव्रतके अतीचार हैं।

प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।
राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च ॥ १८५ ॥

अन्वयार्थौ—[प्रतिरूपव्यवहारः] प्रतिरूप व्यवहार अर्थात् चोखी वस्तुमें खोटी वस्तु मिलाकर बेचना, [स्तेननियोगः] चोरीमें नियोग देना अर्थात् चोरी करनेवालोंको सहायता देना, [तदाहृतादानम्] चोरके द्वारा हरण की हुई वस्तुका ग्रहण करना, [च] और [राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे] राजाके प्रचलित किये हुए नियमोंका उल्लङ्घन करना, नापने तौलनेके गज, बाँट, पाई, तराजू आदिके मान हीनाधिक करना, (एते पञ्चास्तेयव्रतस्य) ये पाँच अचौर्यव्रतके अतीचार हैं।

१–'बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः' (त० सू० अ० ७, सू० २५)। २–'मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः' (त० सू० अ० ७, सू० २६)। ३–स्त्रीपुरुषोंके एकान्तमें किये हुए कार्य। ४–कोई पुरुष कुछ द्रव्य धरोहर रखकर अवधि बीत जानेपर फिर लेनेको आवे और धरोहर द्रव्यकी संख्या भूलकर थोड़ी मांगने लगे, तो उससे इस प्रकार कहना कि, जितना तू रख गया है ले जा। इस प्रकार जान बूझ करके पूरा द्रव्य न देना. ५–'स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः' (त० सू० अ० ७, सू० २७)

किये हुए क्षेत्रकी लोभादिवश वृद्धि करना और [**स्मृत्यन्तरस्य**] स्मृतिके अतिरिक्त क्षेत्रकी मर्यादाका [**आधानम्**] धारण करना, अर्थात् याद न रखना [**इति**] इस प्रकार [**पञ्च**] पांच अतीचार [**प्रथमशीलस्य**] प्रथम शीलके अर्थात् दिग्व्रतके [**गदिताः**] कहे गये हैं।

प्रेष्यस्य संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ।
क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पञ्चेति ॥ १८९ ॥

अन्वयार्थौ—[**प्रेष्यस्य संप्रयोजनम्**] प्रमाण किये हुए क्षेत्रके बाहिर अन्य पुरुषको भेज देना, [**आनयनं**] वहाँसे किसी वस्तुका मँगाना, [**शब्दरूपविनिपातौ**] शब्द सुनाना, रूप दिखाकर इशारे करना और [**पुद्गलानां**] कंकड़ पत्थरादि पुद्गलोंका [**क्षेपोऽपि**] फेंकना भी [**इति**] इस प्रकार [**पञ्च**] पाँच अतीचार [**द्वितीयशीलस्य**] दूसरे शीलके अर्थात् देशव्रतके कहे गये है।

कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यम्।
असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पञ्चेति ॥ १९० ॥

अन्वयार्थौ—[**कदर्पः**] कन्दर्प यो कामके वचन कहना, [**कौत्कुच्यं**] भंडरूप अयुक्त कायचेष्टा, [**भोगानर्थक्यम्**] भोगोपभोगके पदार्थोंका अनर्थक्य, [**मौखर्यम्**] मुखरता या वाचालता [**च**] और [**असमीक्षिताधिकरणं**] विना विचारे कार्यका करना [**इति**] इस प्रकार [**तृतीयशीलस्य**] तीसरे शील अर्थात् अनर्थदण्डविरति व्रतके [**अपि**] भी [**पञ्च**] पाँच अतीचार हैं।

भावार्थ—रागकी अधिकतासे निष्प्रयोजन अशिष्ट बोलनेको **कंदर्प**, विकाररूप दूषित कायचेष्टा बनानेको **कौत्कुच्य**, भोगोपभोगके पदार्थ वहुत मोल देकर लेनेको **भोगानर्थक्य**, व्यर्थ ही यद्वा तद्वा बकनेको **मौखर्य**, और प्रयोजनसे अधिक विना विचारे कार्य करनेको **असमीक्षिताधिकरण** कहते हैं।

वचनमनःकायानां दुःप्रणिधानं त्वनादरश्चैव।
स्मृत्यनुपस्थानयुताः पञ्चेति चतुर्थशीलस्य ॥ १९१ ॥

अन्वयार्थौ—[**स्मृत्यनुपस्थानयुताः**] स्मृत्यनुपस्थानसहित, [**वचनमनःकायानां**] वचन, मन और कायकी [**दुःप्रणिधानं**] खोटी प्रवृत्ति, [**तु**] और [**अनादरः**] अनादर [**इति**] इस प्रकार [**चतुर्थशीलस्य**] चौथे शील अर्थात् सामायिक व्रतके [**पञ्च**] पाँच [**एव**] ही अतीचार हैं।

भावार्थ—सामायिक पढ़ते समय अशुद्ध पाठके उच्चारण करनेको **वचनदुःप्रणिधान**, अन्य-पदार्थोंकी ओर मनके चलायमान करनेको **मनोदुःप्रणिधान**, शरीरके चलाचलरूप करनेको **कायदुःप्रणिधान**, सामायिक क्रिया उत्साहहीन होकर करनेको **अनादर** और 'यह पाठ मैंने पढ़ा कि नहीं' ऐसी संशयरूप विस्मृतिको **स्मृत्यनुपस्थान** कहते हैं।

१–आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः (त० अ० ७, सू० ३१) २–कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि (त०अ०७,सू०३२)। ३–योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि (त०अ०७,सू०३३)

निक्षेप और सचित्तपिधान, [कालस्यातिक्रमणं] कालका अतिक्रम, [च] और [मात्सर्य] मात्सर्य, [इति] इस प्रकार [अतिथिदाने] अतिथिसंविभाग व्रतके पाँच अतीचार होते हैं।

भावार्थ—किसी कार्यके वश वहाना वनाकर दूसरेसे दान देनेके लिये कह जानेको **परदातृव्यपदेश,** कमल पत्रादिक सचित्त वस्तुओंमें आहार रखनेको **सचित्तनिक्षेप,** सचित्त कमलादिक पत्रोंसे आहार ढँकनेको **सचित्तपिधान,** अतिथिके आहारका समय भूल जानेको **कालातिक्रम** और दाताओंसे ईर्षा करनेको अथवा उनकी प्रशंसा न सह सकनेको **मात्सर्य** कहते हैं।

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च।
सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले॥ १९५॥

अन्वयार्थौ—[जीवितमरणाशंसे] जीविताशंसा, मरणाशंसा, [सुहृदनुरागः] सुहृदनुराग, [सुखानुवन्ध] सुखानुवन्ध [च] और [सनिदानः] निदानसहित [एते] ये [पञ्च] पाँच अतीचार [सल्लेखनाकाले] समाधिमरणके समयमें [भवन्ति] होते हैं।

भावार्थ—असार शरीरकी स्थितिमें आदरवान् होके जीनेकी इच्छा करनेको **जीविताशंसा,** रोगादिककी पीड़ाके भयसे शीघ्र ही मरनेकी इच्छा करनेको **मरणाशंसा,** पूर्वमें मित्रोंके साथ की हुई आनन्ददायिनी क्रीड़ाके स्मरण करनेको **सुहृदनुराग,** पूर्वकृत नाना प्रकारके भोगोपभोग स्त्री सुखादिकोंके चिन्तवन करनेको **सुखानुवन्ध** और भविष्यकालके भोगोंके वांछारूप चिन्तवनको **निदान** कहते हैं।

इत्येतानतिचारानपरानपि संप्रतर्क्य परिवर्ज्य।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात्॥ १९६॥

अन्वयार्थौ—[इति] इस प्रकार गृहस्थ [एतान्] इन पूर्वमें कहे हुए [अतिचारान्] अतीचारोंको और [अपरान्] दूसरोंको अर्थात् अन्य दूषणोंके लगानेवाले अतिक्रम व्यतिक्रमादिकोंको [अपि] भी [संप्रतर्क्य] विचार कर, [परिवर्ज्य] छोड़ करके, [अमलैः] निर्मल [सम्यक्त्वव्रतशीलैः] सम्यक्त्व, व्रत और शीलों द्वारा [अचिरात्] थोड़े ही समयमें [पुरुषार्थसिद्धिम्] पुरुषके प्रयोजनकी सिद्धिको [एति] प्राप्त होता है।

भावार्थ—अतीचारोंके परिहारसे सम्यक्त्व व्रत और शील शुद्ध होते हैं, और फिर उनके शुद्ध होनेपर आत्मा शीघ्र ही अपने इष्ट पदको प्राप्त होता है।

इति देशचारित्रकथनम्।

प्रकारसे अमुक आहार मिलेगा, तो भोजन करूँगा अन्यथा नहीं," इस प्रकार प्रवृत्तिकी मर्यादा करनेको वृत्तेः संख्या अथवा **वृत्तिपरिसंख्या** कहते हैं।

प्रथम तपसे रागादिक जीते जाते हैं, कर्मोंका क्षय होता है, ध्यानादिककी सिद्धि होती है, दूसरेसे निद्रा नहीं आती, दोष घटते हैं, सन्तोष स्वाध्यायकी प्राप्ति होती है, तीसरेसे किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित नही होती, ब्रह्मचर्यका पालन होता है, ध्यानाध्ययनकी सिद्धि होती है, चौथेसे इन्द्रियोंका दमन होता है, निद्रा आलस्यका शमन होता है, स्वाध्याय-सुखकी सिद्धि होती है, पाँचवेंसे सुखकी अभिलाषा कृश होती है, रागका अभाव होता है, कष्ट सहन करनेका अभ्यास होता है, प्रभावनाकी वृद्धि होती है, और छट्ठे तपसे तृष्णाका विनाश होता है।

विनयो वैयावृत्त्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः।
स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोऽन्तरङ्गमिति ॥ १९९ ॥

अन्वयार्थौ—[**विनयः**] विनय, [**वैयावृत्यं**] वैयावृत्य, [**प्रायश्चित्तं**] प्रायश्चित्त [**तथैव च**] और तैसे ही [**उत्सर्गः**] उत्सर्ग, [**स्वाध्यायः**] स्वाध्याय, [**अथ**] पश्चात् [**ध्यानं**] ध्यान, [**इति**] इस प्रकार [**अन्तरङ्गम्**] अन्तरङ्ग [**तपः**] तप [**निषेव्यं**] सेवन करने योग्य [**भवति**] है।

भावार्थ—अन्तरङ्गतपके छह भेद हैं, जिनमें आदरभावको **विनय** कहते हैं। यह विनय दो प्रकारका है–१ **मुख्यविनय** २ **उपचारविनय**। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको पूज्यबुद्धिसे आदरपूर्वक धारण करना यह **मुख्यविनय** है, और इनके धारण करनेवाले आचार्यादिकोंकी आदरपूर्वको नमस्कारादि करना यह **उपचारविनय** है। इन आचार्यादिकोंकी भक्तिके वश परोक्षरूपमें उनके तीर्थ क्षेत्रादिकोंकी वन्दना करना यह भी उपचारविनयका भेद है। पूज्य पुरुषोंकी सेवा चाकरी करनेको **वैय्यावृत्य** कहते हैं। उसके भी दो भेद हैं–एक **कायचेष्टाजन्य** जैसे हाथसे पदसेवन करना, दूसरा **परवस्तुजन्य** जैसे भोजनके साथमें औषधादिक देकर साधुओंको रोग पीड़ासे मुक्त करना, प्रमादसे उत्पन्न हुए दोषोंको प्रतिक्रमणादि पाठ अथवा तप व्रतादि अङ्गीकार करके दूर करनेको **प्रायश्चित्त** कहते हैं, धन धान्यादिक बाह्य तथा क्रोध मानादि अन्तरङ्ग परिग्रहोंमें अहंकार ममकाररूप बुद्धिके त्याग करनेको **उत्सर्ग** कहते हैं। ज्ञानभावनाके लिये आलस्य रहित होकर श्रद्धानपूर्वक जैनसिद्धान्तोंका स्वतः पढ़ना, वारम्बार अभ्यास करना, धर्मोपदेश देना, और दूसरोंसे सुनना, इसे **स्वाध्याय** कहते हैं, और समस्त चिन्ताओंका त्यागकर धर्ममें तथा आत्मचिन्तवनमें एकाग्र होनेको **ध्यान** कहते हैं।

प्रथम अन्तरङ्ग तपसे मानकषायका विनाश होकर ज्ञानादि गुणोंकी प्राप्ति होती है, दूसरेसे गुणानुराग प्रकट होकर मानका अभाव होता है, तीसरेसे व्रतादिकोंकी शुद्धता होकर परिणाम निःशल्य हो जाते हैं, तथा मानादिक कषाय कृश होते हैं, चौथेसे निष्परिग्रहत्व प्रकट होकर मोह क्षीण होता हैं, पाँचवेंसे बुद्धि स्फुरायमान होकर परिणाम उज्ज्वल रहते हैं, संवेग होता है, धर्मकी वृद्धि होती है, और छट्ठेसे मन वशीभूत होकर अनाकुलताकी प्राप्तिसे परम आनन्दमें मग्न हो जाता है।

१–प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् (त० अ० ९, सू० २०)।

अन्वयार्थौ—[**सम्यग्गमनागमनं**] सावधान होकर भले प्रकार गमन और आगमन, [**सम्यग्भाषा**] उत्तम हितमितरूप वचन, [**सम्यक् एषणा**] योग्य आहारका ग्रहण, [**सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ**] पदार्थका यत्नपूर्वक ग्रहण और यत्नपूर्वक क्षेपण अर्थात् धरना [**तथा**] और [**सम्यग्व्युत्सर्गः**] प्रासुक भूमि देखकर मल मूत्रादिक त्यागना [**इति**] इस प्रकार ये पाँच [**समितिः**] समिति हैं।

भावार्थ—प्राण-पीड़ा-परिहार करनेमें पाँच **समिति** उत्तम उपाय हैं। इनके **ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति** और **उत्सर्गसमिति** ये पाँच प्रचलित नाम हैं। श्लोकमें इन्हीं नामोंके वाचक अन्य शब्द दिये गये हैं। मुनि और श्रावक दोनोंको इनकी पालना यथोचित् करनी चाहिये।

धर्मः सेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम्।
आकिञ्चन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति ॥ २०४ ॥

अन्वयार्थौ—[**क्षान्तिः**] क्षमा, [**मृदुत्वम्**] मृदुपना अर्थात् मार्दव, [**ऋजुता**] सरलपना अर्थात् आर्जव, [**शौचम्**] शौच, [**अथ**] पश्चात् [**सत्यम्**] सत्य, [**च**] तथा [**आकिञ्चिन्यं**] आकिंचन, [**ब्रह्म**] ब्रह्मचर्य, [**च**] और [**त्यागः**] त्याग, [**च**] और [**तपः**] तप, [**च**] और [**संयमः**] संयम [**इति**] इस प्रकार [**धर्मः**] दश प्रकारका धर्म [**सेव्यः**] सेवन करनेके योग्य है।

भावार्थ—क्रोध कषायके कारण परिणामोंके कलुषित न होने देनेको **क्षमा,** जात्यादि अष्ट मदके न करनेको **मार्दव,** मनोवचनकायकी क्रियाओंके वक्र न रखनेको तथा कपटके त्यागको **आर्जव,** अन्तः-करणमें लोभ गृद्धताके न्यून करनेको तथा बाह्य शरीरादिकमें पवित्रता रखनेको **शौच,** यथार्थ वचन कहनेको **सत्य,** परिग्रहके अभावको तथा शरीरादिकमें ममत्व न रखनेको **आकिंचन,** कर्मक्षय करनेके लिये अनशनादि करनेको तथा इच्छाके निरोध करनेको **तप,** दूसरे जीवोंको दयाभाव करके ज्ञान आहारादि दान देनेको **त्याग,** इन्द्रियनिरोधन तथा त्रस स्थावर जीवोंकी रक्षाको **संयम,** और आत्मामें तल्लीन रहने तथा स्त्री-संभोगके त्याग करनेको **ब्रह्मचर्य,** कहते हैं। ये दशों धर्म अपनी अपनी योग्यतानुसार मुनि और श्रावक दोनोंको धारण करना चाहिये।

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्रवो जन्म।
लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सततमनुप्रेक्ष्याः ॥ २०५ ॥

अन्वयार्थौ—[**अध्रुवम्**] अध्रुव, [**अशरणम्**] अशरण, [**एकत्वम्**] एकत्व, [**अन्यता**] अन्यत्व, [**अशौचम्**] अशुचि, [**आस्रवः**] आस्रव, [**जन्म**] संसार, [**लोकवृषबोधिसंवर-निर्जराः**] लोक, धर्म, बोधिदुर्लभ, संवर, और निर्जरा (एता द्वादशभावना) ये बारह भावनायें [**सततम्**] निरन्तर [**अनुप्रेक्ष्याः**] बार बार चिन्तवन तथा मनन करना चाहिये।

भावार्थ—मुमुक्षु (मोक्षाभिलाषी) जनोंको उपर्युक्त बारह भावनायें अथवा द्वादशानुप्रेक्षाओंका चिन्तवन निरन्तर करना चाहिये। ये भावनायें परम (उत्कृष्ट) वैराग्यको प्राप्त करनेवाली हैं। अनुप्रेक्षा

१–उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः (त० अ० ९, सू० ६)।

होता है, सेवक स्वामी होता है, स्त्री माता होती है और माता स्त्री होती है, और तो क्या आप ही मरकर अपने वीर्य्यसे अपना ही पुत्र होता है, फिर ऐसे संसारमें विश्वास करना कैसा ? संसारमें कहीं भी सुख नहीं है । किसीके धन धान्य सेवक हस्ती घोटकादि समस्त वैभवकी सामग्री है, परन्तु पुत्र न होनेसे अत्यन्त दुखी है, जिसके पुत्री पुत्रादिक हैं, वह लक्ष्मीके न होनेसे दुखी है, जिसके सम्पत्ति और संतति दोनों हैं, वह शरीरसे नीरोगी न रहनेके कारण दुखी है, कोई स्त्रीकी अप्राप्तिसे दुखी है, तथा जिसके स्त्री है, वह उसके कठोर स्वभावसे दुखी है, किसीका पुत्र कुमार्गगामी है, किसीकी पुत्री दुश्चरित्रा है, सारांश संसारमें कोई भी सुखी नहीं है ।

४–एकत्वानुप्रेक्षा—यह जीव सदाका अकेला है, परमार्थदृष्टिसे इसका मित्र कोई नहीं है, अकेला आया है, अकेला दूसरी योनिमें चला जायगा । अकेला ही बूढ़ा होता है । अकेला ही जवान होता है, और अकेला ही बालक होकर क्रीड़ा करता फिरता है । अकेला ही रोगी होता है, अकेला ही दुखी होता है, अकेला ही पाप कमाता है, और अकेला ही उसके फलको भोगता है, बंधु वर्गादिक कोई भी स्मशान-भूमिसे आगेके साथी नहीं है, एक धर्म ही साथ जानेवाला है ।

५–अन्यत्वानुप्रेक्षा—यद्यपि इस शरीरसे मेरा अनादि कालसे सम्बन्ध है, परन्तु यह अन्य है और मैं अन्य ही हूँ । यह इन्द्रियमय है, मैं अतीन्द्रिय हूँ, यह जड़ है, मैं चैतन्य हूँ । यह अनित्य है, मैं नित्य हूँ । यह आदि अन्त संयुक्त है, मैं अनादि अनन्त हूँ । सारांश, शरीर और मैं सर्वथा भिन्न हूँ । इसलिये जब अत्यन्त समीपस्थ शरीर भी अपना नहीं है, तो फिर स्त्री कुटुम्बादिक अपने किस प्रकार हो सकते हैं? ये तो प्रत्यक्ष ही दूसरे हैं ।

६–अशुचित्वानुप्रेक्षा—यह शरीर अतिशय अपवित्रताका योनिभूत और वीभत्सयुक्त है । माता पिताके मलरूप रज और वीर्यसे इसकी उत्पत्ति है, इसके संसर्गमात्रसे अन्य पवित्र सुगन्धित पदार्थ महा अपवित्र तथा घिनावने हो जाते हैं । शरीर इतना निंद्य पदार्थ है, कि यदि इसके ऊपर त्वचाजाल नहीं होता, तो इसकी ओर देखना भी कठिन हो जाता ।

विषयाभिलाषी जीव यद्यपि इसे ऊपरसे नाना प्रकारके वस्त्राभूषणों तथा सुगन्धित द्रव्योंसे

१–कस्स वि णत्थि कलत्तं अहव कलत्तं ण पुत्त-संपत्ती ।
अह तेसिं संपत्ती तह वि सरोओ हवे देहो ॥ ५१ ॥
अह णीरोओ देहो तो धण-धण्णाण णेय संपत्ती ।
अह धण-धण्णं होदि हु तो मरणं झत्ति ढुक्केदि ॥ २ ॥
कस्स वि दुट्ट-कलत्तं कस्स वि दुव्वसण-वसणिओ पुत्तो ।
कस्स वि अरि-सम-बंधू कस्स वि दुहिदा वि दुच्चरिया ॥ ५३ ॥

कस्यापि नास्ति कलत्रं अथवा कलत्रं न पुत्रसम्प्राप्तिः । अथ तेषां सम्प्राप्तिः तथापि सरोगः भवेत् देहः ॥५१॥
अथ नीरोगः देहः तदा धनधान्यानां नैव सम्प्राप्तिः । अथ धनधान्यं भवति खलु तदा मरणं झटिति ढौकते ॥५२॥
कस्यापि दुष्टकलत्रं कस्यापि दुर्व्यसनव्यसनिकः पुत्रः ।
कस्यापि अरिसमबन्धुः कस्य अपि दुहितापि दुश्चरिता ॥ ५३ ॥ (स्वा० का०)

२–देहात्मकोऽहमिति चेतसि मा कृथास्त्वं ,त्वत्तो यतोऽस्य वपुषः परमो विवेकः ॥
त्वं धर्मशर्मगतिः परितोऽवसायः, कायः पुनर्जडतया गतधीनिकायः ॥ (य० ति च० १२३)

दबाकर गर्मीके द्वारा पकाया जाना अविपाकनिर्जराका उदाहरण है। सविपाकनिर्जरा सम्पूर्ण संसारी जीवोंके होती है, परन्तु अविपाकनिर्जरा सम्यग्दृष्टि सत्पुरुषों तथा व्रतधारियोंके ही होती है। निर्जराके स्वरूपका इस प्रकार चिन्तवन करना निर्जरानुप्रेक्षा है।

१०–**लोकानुप्रेक्षा**—दशों दिशागत शून्यरूप अनन्त अलोकाकाश है। इस अलोकाकाशके बहुमध्यवर्ती देशमें पुरुषके आकार (सदृश) लोक स्थित है, यह लोक अनादिनिधन स्वयंसिद्ध रचनाके द्वारा स्थिर है। इसका न कोई कर्त्ता है और न कोई हर्त्ता है। इस पुरुषाकार लोकका उरुजंघादिदेश अधोलोक है। कटितटप्रदेश मध्यलोक है; उदरप्रदेश माहेन्द्र स्वर्गान्त है, हृदयप्रदेश ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्ग है, स्कन्ध प्रदेश आरणाच्युत स्वर्ग है, महाभुजायें दोनों ओरकी मर्यादा हैं, कण्ठदेश नवग्रैवेयिक है, दाँढ़ीदेश अनुदिशि है, ललाटदेश सिद्धक्षेत्र है और मस्तक सिद्धस्थान है। इस प्रकार पुरुषाकार लोककी आकृति ध्यानमें स्थितकर वारम्वार चिन्तवन करनेको लोकानुप्रेक्षा कहते हैं।

११–**वोधिदुर्लभानुप्रेक्षा**—इस घोर दुःखरूप संसारमें निगोद राशिसे निकलकर त्रस जन्मकी प्राप्ति दुर्लभ है। त्रस जन्ममें भी पंचेन्द्रिय होना महासमुद्रमें गिरी हुई वज्रकणिकाकी प्राप्तिके तुल्य महादुर्लभ है, पंचेन्द्रियमें भी मनुष्य होना सब गुणोंमें कृतज्ञता गुणकी नाईं अति दुर्लभ है। एक मनुष्यपर्यायके पूर्ण होनेपर उसका पुनः प्राप्त करना मुख्यमार्गमें पड़े हुए रत्नके समान अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्य-जन्ममें भी उत्तम कुल, उत्तम देश, इन्द्रियोंकी पूर्णता, आरोग्यता, और सम्पत्ति पाना भस्मीभूत वृक्षकी भस्मसे वृक्षकी फिरसे उत्पत्तिके समान उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। अन्तमें जाकर परम अहिंसामयी धर्म, धर्ममें उत्तम श्रद्धा, गृहस्थधर्म, यतिधर्म तथा समाधिमरण पाना तो अतिशय दुर्लभ है। इस प्रकार रत्नत्रय रत्नके चिन्तवन करनेको वोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कहते हैं, अथवा परवस्तुकी प्राप्ति जो अपने वशमें नहीं है, वह होवे अथवा न होवे, परन्तु अपना स्वभाव आपमें ही है, कहींसे लाना नहीं है; उसकी प्राप्ति दुर्लभ क्यों मानना चाहिये? इस प्रकारके चिन्तवनको भी दुर्लभानुप्रेक्षा कहते हैं।

१२–**धर्मानुप्रेक्षा**—यह सर्वज्ञप्रणीत जैनधर्म अहिंसालक्षणयुक्त है। सत्य, शौच ब्रह्मचर्यादि इसके अंग हैं। इनकी अप्राप्तिसे जीव अनादि संसारमें परिभ्रमण करता है, पापके उदयसे दुःखी होता है, परंतु इसकी प्राप्तिसे अनेक सांसारिक सम्पदाओंका भोग करके मुक्ति प्राप्तिसे सुखी होता है, इस प्रकार चिन्तवन करनेको धर्मानुप्रेक्षा कहते हैं।

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनारतिरलाभः।
दंशो मशकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमङ्गमलम् ॥ २०६ ॥

१–इसके भी दो भेद हैं, एक शुभानुबन्धा और दूसरी निरनुबन्धा, जिससे स्वर्गादि सुखोंकी प्राप्ति होती है, उसे शुभानुबन्धा और जिससे मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है, उसे निरनुबन्धा कहते हैं। २–जैनधर्मका पुरुषाकार लोक जाननेके लिये तिलोयपण्णत्ति, धवलसिद्धान्त ग्रन्थ, त्रिलोकसार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, आदि महान् ग्रन्थ देखना चाहिए।

३–क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुर-स्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि (त० सू० अ० ९ सू० ९)

२–तृषापरीषहजय—प्यासकी असह्य वेदना होनेपर उसके वशीभूत होकर जल-पानादिक न करके दुःख सह लेनेको कहते हैं। उष्णताकी पुंज ग्रीष्मऋतुमें पहाड़के शिखरपर आरूढ़ मुनिको उपवासोंकी तीव्र उष्णतासे जिस समय तृषावेदना होती है, उस समय वे विचारते हैं:—हे जीव; तूने संसारमें अनेक वार जन्म धारण करके अनेक बार अनेक गतिमें अतिशय दुःसह तृषा वेदनाका सहन किया है, फिर इस थोड़ीसी वेदनासे कायर क्यों होता है? मुनिकी स्वतंत्र सिंहवृत्तिका आचरण करके कायर होना लज्जाकी बात है। जगत्पूज्य इस मुनि अवस्थामें दुर्लभ ज्ञान-पीयूषका पान कर।

३–शीतपरीषहजय—शीतका कष्ट सहन करनेको कहते हैं। जिसमें हवाके एक झोकेसे जगत्के जीवोंकी शरीरयष्टि थर-थर काँपने लगती है, सरोवरोंके जल जिसके डरसे पत्थर (वर्फ) हो जाते हैं। हरित वृक्षोंके समूह तथा कमल-वन जिस समय तुषारसे जल जाते हैं। तेल, अग्नि, ताम्बूलादि उष्ण पदार्थोंका सेवन करते हुए भी मनुष्य घरमेंसे बाहिर नहीं हो सकते, ऐसी हेमन्तऋतुमें सरित सरोवरादि जलाशयोंके किनारे कायोत्सर्ग अथवा पद्मासनस्थित मुनिवरोंको जब शीत सताता है, तब वे विचार करते हैं:—हे जीव; तूने छट्टे सातवें नरक प्रदेशकी उस महाशीत वेदनाका सहन किया है, जिसकी तुलना करनेसे यह उपस्थित वेदना सुमेरुके सम्मुख एक अणुके तुल्य है। यदि तू इस महा मुनिवृत्तिको धारणकर इसे जीत लेगा, तो सदाके लिये ईससे छुटकारा हो जावेगा। नहीं तो फिर इससे भी दुस्सह शीत अनन्त संसारमें अनन्त वार सहना पड़ेगा।

४–उष्णपरीषहजय—उष्णताका संताप सहनेको कहते हैं। जिसमें समस्त संसार तप्त तवेके समान हो जाता है, यावन्मात्र जीव व्याकुल हो जाते हैं, जंगलके महाहिंसक पशु सिंह और हरिण व्याकुलताके कारण वैरभावको छोड़कर एक स्थानमें पड़े रहते हैं, जलाशयोंके जल सूख जाते हैं, गर्म लूकोंके (लूयें) चलनेसे वृक्ष कुम्हला जाते हैं, ऐसे प्रचंड ग्रीष्मकालमें मुनिजन पर्वतोंकी उच्च शिखरोंकी शिलाओंपर स्थित होते हैं और ज्ञानामृतकी शीतलतासे उष्ण वेदनाका शमन करते रहते हैं।

५–नग्नपरीषहजय—रेशम, ऊन, सूत, घास, वृक्ष, चर्मादिकके किसी प्रकारके वस्त्र न रखकर दशों दिशाओंके वस्त्र धारणकर भयंकर वनमें एकाकी नग्न रहनेको और कायसम्बन्धी विकारोंके न होने देनेको कहते हैं।

६–याचनापरीषहजय—किसीसे किसी भी प्रकारकी याचना न करनेको कहते हैं। याचनासे समस्त संसारी जीव दीन हो रहे हैं। महावैभव तथा ऋद्धिसम्पन्न इन्द्र भी अभिलाषावश रंक हो रहे हैं, परन्तु मुनि अयाचीक व्रतके धारण करनेवाले हैं। वे किसीसे भोजन धर्मोपकरणादि वस्त्र तो क्या तीर्थंकर-देवसे मोक्ष भी नहीं माँगते। इसीसे वे सर्वोत्कृष्ट हैं।

७ अरतिपरीषहजय—संसारके समस्त इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें संसारी जीव राग द्वेष मानते हैं। ऐसा न करके मन्दिर और वन, शत्रु और मित्र, कनक और पाषाण, सबमें समता भाव धारण करनेको तथा रति अरति रूप परिणाम न करनेको अरतिपरीषहजय कहते हैं।

८–अलाभपरीषहजय—अनेक उपवासोंके अनन्तर नगरमें भोजनार्थ जानेपर निर्दोष आहारादि न मिलनेसे खेदित न होनेको कहते हैं।

दिक महर्द्धिक देवोंसे सत्कार पानेपर और अविवेकी क्षुद्र जीवोंसे तिरस्कृत होनेपर हर्ष विषाद न करके समान भाव धारण करनेको सत्कारपुरस्कारपरीषहजय कहते हैं।

१८-**शय्यापरीषहजय**—खुरदरी, पथरीली काँटोंसे भरी हुई भूमिमें शयन करके दुखी न होनेको कहते हैं।

१९-**चर्य्यापरीषहजय**—किसी प्रकारकी सवारीकी इच्छा न करके मार्गके कष्टको न गिनकर भूमिशोधन करते हुए गमन करनेको कहते हैं।

२०-**वधबंधनपरीषहजय**—दुष्ट मनुष्योंद्वारा वधबंधनादि दुःख उपस्थित होनेपर उन्हें समता पूर्वक सहन करनेको कहते हैं।

२१-**निषद्यापरीषहजय**—निर्जन वनोंमें, हिंसक जीवोंके निवास स्थानोंमें, व्यन्तरादि देवोंके स्थानोंमें, अंधकारयुक्त गुफाओंमें, और स्मशानभूमियोंमें रहकर भी दुःख न माननेको कहते हैं।

२२-**स्त्रीपरीषहजय**—महासुन्दर, स्त्रियोंकी हाव भाव भ्रूकटाक्षादि चेष्टाओंसे पीड़ित न होनेको कहते हैं।

इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता॥ २०९॥

अन्वयार्थौ—[**इति**] इस प्रकार [**एतत्**] पूर्वोक्त [**रत्नत्रयम्**] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय [**विकलम्**] एकदेश [**अपि**] भी [**निरत्ययां**] अविनाशी [**मुक्तिम्**] मुक्तिको [**अभिलषता**] चाहनेवाले [**गृहस्थेन**] गृहस्थ के द्वारा [**अनिशं**] निरन्तर [**प्रतिसमयं**] समय समयपर [**परिपालनीयम्**] परिपालन करने योग्य है।

भावार्थ—इस मोक्ष प्रतिपादक ग्रन्थमें अभीतक सकल और विकलरूप दो प्रकारके रत्नत्रयका स्वरूप वर्णन किया गया है[1], अब कहते हैं, कि सकलरत्नत्रय मुनिका धर्म है, और विकलरत्नत्रय गृहस्थका धर्म हैं, परन्तु साक्षात् परम्पराकी अपेक्षा ये दोनों ही मोक्षके कारण हैं, बन्धके कारण नहीं हैं। इसलिये मोक्षाभिलाषी गृहस्थको सकल न सध सके, तो विकलरत्नत्रयका सेवन करना चाहिये।

बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम्॥ २१०॥

अन्वयार्थौ—[**च**] और यह विकलरत्नत्रय [**नित्यं**] निरन्तर [**बद्धोद्यमेन**] उद्यम करनेमें तत्पर ऐसे मोक्षाभिलाषी गृहस्थद्वारा [**बोधिलाभस्य**] रत्नत्रयके लाभके [**समयं**] समयको [**लब्ध्वा**] प्राप्त करके तथा [**मुनीनां**] मुनियोंके [**पदम्**] चरण [**अवलम्ब्य**] अवलम्बन करके [**सपदि**] शीघ्र ही [**परिपूर्णम्**] परिपूर्ण [**कर्त्तव्यं**] करने योग्य है।

भावार्थ—विवेकी जीव गृहस्थाचारमें रहकरके भी सांसारिक भोग-विलासोंसे विरक्त तथा मोक्षमार्गमें

१-प्रथम तीन कारिकाओंमें दर्शन प्रकरण, फिर छह श्लोकोंमें ज्ञानाधिकार, एकसौ साठ आर्या छन्दोंमें देशचारित्र और पश्चात् बारह आर्या छन्दोंमें सकलचारित्रका स्तवन है। इसप्रकार २०८ कारिकाओंमें द्विविध रत्नत्रयका स्वरूप वर्णित है।

भावार्थ—आत्मविनिश्चयप्रकाशक आत्मपरिज्ञानसे आपके द्वारा आपमें ही स्थिर होना इसीका नाम अभेद (सकल) रत्नत्रय है, फिर इस प्रकारकी बुद्धि परिणतिमें बंधका अवकाश कहाँ ? बंध तो तब होता है, जब इस परणतिसे विपरीत होकर परिणमन करता है। अर्थात् इससे यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ, कि जिन अंशोसे यह आत्मा अपने स्वभावरूप परिणमन करता है, वे अंश सर्वथा बंधके हेतु नहीं है; किन्तु जिन अंशोसे यह रागादिक विभावरूप परिणमन करता है, वे ही अंश बंधके हेतु हैं।

योगात्प्रदेशवन्धः स्थितिवन्धो भवति तु कषायात्।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ॥ २१५ ॥

अन्वयार्थौ—[**प्रदेशवन्धः**] प्रदेशबंन्ध[1] [**योगात्**] मन, वचन, कायके व्यापारसे [**तु**] तथा [**स्थितिवन्धः**] स्थितिबंन्ध[2] [**कषायात्**] क्रोधादिक कषायोंसे [**भवति**] होता है, परन्तु [**दर्शनबोधचरित्रं**] सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रय [**न**] न तो [**योगरूपं**] योगरूप है, [**च**] ओर न [**कषायरूपं**] कषायरूप ही है।

भावार्थ—संसारी आत्माकी मन, वचन, कायकी हलन-चलनरूप क्रियाको **योग**[3] कहते हैं। इस योगकी क्रियासे आस्रवपूर्वक प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है, और राग द्वेष भावोंकी परणतिको **कषाय** कहते है। इसके अनुसार स्थितिवन्ध तथा अनुभागबंध होता है। यथा—सयोगकेवलीके योगक्रियासे सातावेदनीका समयस्थायीबंध है, स्थितिबंध नहीं है। क्योंकि उनके कषायका सद्भाव नहीं है। अतएव सिद्ध हुआ कि योगकषाय ही बंधके कारण हैं, सो रत्नत्रय न तो योगरूप ही हैं, और न कषायरूप ही हैं, फिर बंधका कारण कैसे हो सकता है ?

ऊपर कह चुके हैं कि, जीवके प्रदेशोंमें हलन चलनरूप क्रियाविशेषको **योग** कहते हैं। इन योगद्वारोंसे कर्मोंका **आस्रव** होता है, और पश्चात् कर्मके योग्य पुद्गलोंके ग्रहणसे जीव और कर्मपुद्गलोंके एकक्षेत्रावगाहरूप स्थित होनेको **बंध** कहते हैं। यह बंध चार प्रकारका है,—**स्थितिबंध, अनुभागवन्ध, प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध**। बन्धोंके उक्त भेदोपभेद जाननेके पहिले हमको चाहिये, कि कर्म पुद्गलोंको जिनसे कि बंध होता है, अच्छी तरह जान लें। ये कर्म पुद्गल आठ प्रकारके हैं—**१ ज्ञानावरणी**[4], **२ दर्शनावरणी, ३ वेदनी, ४ मोहनी, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय**। ज्ञानावरणीकर्मका स्वभाव परदेके समान है। जिस प्रकार परदा पड़ जानेसे पदार्थको यथार्थ नहीं देखने देता, उसी प्रकार ज्ञानावरणी कर्म पुद्गल आत्माके प्रदेशोंसे सम्बन्ध करके तत्त्वज्ञान नहीं होने देता। **दर्शनावरणी**का स्वभाव द्वारपालके समान है, अर्थात् जिस प्रकार द्वारपाल परका दर्शन नहीं होने देता, इसी प्रकार दर्शनावरणीकर्मपुद्गल आत्मासे संबन्ध करके आत्माका श्रद्धान नहीं करने देता, वेदनीका स्वभाव शहद लपेटी तीक्ष्ण असिधारके समान है, अर्थात् जैसे छुरी चाटनेसे मीठी लगती है, परंतु अन्तमें जीभका छेदन करती हैं,

---

१-प्रदेशबन्धसे प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध दोनोंका ग्रहण किया है। २-स्थितिबंधसे स्थितिबंध और अनुभागबंध दोनोंका ग्रहण किया है। ३-'कायवाङ्मनःकर्म योगः' इति वचनात्।

४-इनमेंसे चार कर्मोंकी घातियाकर्म और आयु नामादि चारकी अघातियाकर्म संज्ञा है, क्योंकि घातियाकर्मोंका क्षय हो चुकनेपर अघातियाकर्म बलहीन हो जाते हैं।

अन्वयार्थौ—[आत्मविनिश्चितिः] अपनी आत्माका विनिश्चय [दर्शनम्] सम्यग्दर्शन, [आत्मपरिज्ञानम्] आत्माका विशेष ज्ञान [बोधः] सम्यग्ज्ञान, और [आत्मनि] आत्मामें [स्थितिः] स्थिरता [चारित्रं] सम्यक्चारित्र [इष्यते] कहा गया है, तो फिर [एतेभ्यः 'त्रिभ्यः'] इन तीनोंसे [कुतः] कैसे [बन्धः] बंध [भवति] होता है ?

भावार्थ—चेतनालक्षणयुक्त अनन्तगुणात्मक आत्माका, स्वतत्वविनिश्चयरूप चेतनापरिणाम सम्यग्दर्शन है, विनिश्चित आत्माका परिचयरूप चेतनापरिणाम सम्यग्ज्ञान है, और उक्त परिचित आत्मामें निराकुल स्थिरतारूप चेतनापरिणाम सम्यक्चारित्र्य है। इस प्रकार अभेदरत्नत्रयी आत्मस्वभावसे बंध होनेकी संभावना कैसे की जा सकती है ? नहीं की जाती। क्योंकि भिन्न वस्तुसे बंध होता है, अभेदरूपसे नहीं।

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थकराहारकर्म्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥ २१७ ॥

अन्वयार्थौ—[अपि] और [तीर्थकराहारकर्मणाः] तीर्थंकर प्रकृति और आहार प्रकृतिका [यः] जो [बन्धः] बन्ध [सम्यक्त्वचरित्राभ्यां] सम्यक्त्व और चारित्रसे [समये] आगममें [उपदिष्टः] कहा है, [सः] वह [अपि] भी [नयविदां] नयवेत्ताओंको [दोपाय] दोषके लिये [न] नहीं है।

भावार्थ—तीर्थंकरप्रकृतिका बंध चतुर्थ गुणस्थानसे आठवें गुणस्थानके छट्ठे भागतक तीनों सम्यक्त्वोंसे होता है और आहारप्रकृतिका बंध चारित्रसे होता है, यद्यपि ऐसा श्रुतकेवलीप्रणीत शास्त्रोंमें नियम है, तो भी नयविभागके ज्ञाता इन कथनको अविरुद्ध समझते हैं। क्योंकि अभूतार्थनयकी अपेक्षा तो सम्यक्त्व और चारित्र बंधके करनेवाले होते हैं, परन्तु भूतार्थनयकी अपेक्षा सम्यक्त्वचारित्र बंधके कर्ता नहीं होते, बंधके कर्त्ता पूर्वोक्त योग कषाय ही हैं। और भी :—

सम्यक्त्व दो प्रकारका है एक सरागसम्यक्त्व और दूसरा वीतरागसम्यक्त्व। सरागसम्यक्त्व किंचित् रागभावयुक्त और वीतरागसम्यक्त्व रागभावसे विमुक्त है, सुतरां तीर्थंकर व आहारप्रकृतिका बंध सरागसम्यक्त्वमें राग भावके मेलसे होता है, वीतराग सम्यक्त्वमें नहीं।

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थकराहारबन्धकौ भवतः।
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥ २१८ ॥

अन्वयार्थौ—[यस्मिन्] जिसमें [सम्यक्त्वचरित्रे सति] सम्यक्त्व और चारित्रके होते हुए [तीर्थकराहारबन्धकौ] तीर्थंकर और आहारप्रकृतिके बंध करनेवाले [योगकषायौ] योग और कषाय [भवतः] होते हैं, [पुनः] और [असति, न] नहीं होते हुए नहीं होते हैं, अर्थात् सम्यक्त्व चारित्रके विना बंधके कर्ता योग कषाय नहीं होते [तत्] वह सम्यक्त्व और चारित्र [अस्मिन्] इस बंधमें [उदासीनम्] उदासीन है।

अन्वयार्थौ—[हि] निश्चयकर [एकस्मिन्] एक वस्तुमें [अत्यन्तविरुद्धकार्ययोः] अत्यन्त विरोधी दो कार्योंके [अपि] भी [समवायात्] मेलसे [तादृशः अपि] वैसा ही [व्यवहारः] व्यवहार [रूढिम्] रूढ़िको [इतः] प्राप्त है, [यथा] जैसे [इह] इस लोकमें "[घृतम्] घीव [दहति] जलाता है" [इति] इसप्रकारकी कहावत है ।

भावार्थ—जैसे अग्नि दाहकरूप कार्यमें कारण है, और घृत अदाहरूप कार्यमें कारण है परंतु जब इन दोनों अत्यंत विरोधी कार्योंका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है; तब कहा जाता है, कि इस पुरुषको घृतने जल दिया । इसी प्रकार शुभोपयोग पुण्यबंधरूप कार्यमें कारण है और रत्नत्रय मोक्षरूप कार्यमें कारण है, परन्तु जब गुणस्थानकी चढ़न परिपाटीमें दोनों एकत्र होते हैं, तब व्यवहारसे संसारमें कहा जाता है कि रत्नत्रयसे बंध हुआ । यदि यथार्थमें रत्नत्रय बंधका कारण मान लिया जावेगा, तो मोक्षका सर्वथा अभाव ही हो जावेगा ।

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः ।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम् ॥ २२२ ॥

अन्वयार्थौ—[इति] इस प्रकार [एषः] यह पूर्वकथित [मुख्योपचाररूपः] निश्चय और व्यवहाररूप [सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणः] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र लक्षणवाला [मोक्षमार्गः] मोक्षका मार्ग [पुरुषम्] आत्माको [परं पदं] परमात्माका पद [प्रापयति] प्राप्त करता है ।

भावार्थ—अष्टाँग सम्यग्दर्शन, अष्टाँग सम्यग्ज्ञान और मुनियोंके महाव्रतरूप आचरणको व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं, तथा अपने आत्मतत्त्वका परिज्ञान और आत्मतत्त्वमें ही निश्चल होनेको निश्चय रत्नत्रय कहते हैं । यह दोनों प्रकारका रत्नत्रय मोक्षका मार्ग है । जिसमेंसे निश्चल रत्नत्रय समुदाय साक्षात् मोक्षमार्ग है, और व्यवहार रत्नत्रय परम्परा मोक्षमार्ग है । पथिकके (बटोहीके) उस मार्गको जिससे कि वह अपने अभीष्ट देशको क्रमसे स्थान स्थानपर ठहरके पहुँचता है, **परम्परामार्ग**, और जिससे अन्य किसी स्थानमें ठहरे विना सीधा ही इष्ट देशको पहुँचता है, उसे **साक्षात्मार्ग** कहते हैं ।

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः ॥
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः ॥ २२३ ॥

अन्वयार्थौ—[नित्यम् अपि] सदा ही [निरुपलेपः] कर्मरूपी रजके लेपसे रहित [स्वरूपसमवस्थितः] अपने अनन्त दर्शन ज्ञानस्वरूपमें भले प्रकार ठहरा हुआ [निरुपघातः] उपघातरहित[1] और [विशदतमः] अत्यन्त निर्मल [परमपुरुषः] परमात्मा [गगनम् इव] आकाशकी तरह [परमपदे] लोकशिखर स्थित मोक्षस्थानमें [स्फुरति] प्रकाशमान होता है ।

१–स्वभावसे किसीके द्वारा घात नहीं किया जाता ।

भावार्थ—जिस नयके कथनका प्रयोजन द्रव्यसे हो उसे द्रव्यार्थिक और जिसका प्रयोजन पर्य्यायसे ही हो उसे पर्य्यायार्थिक नय कहते हैं। इन दोनों नयोंसे ही वस्तुके यथार्थ स्वरूपका साधन होता है, अन्य मान्य न्यायोंसे वस्तुका साधन कदापि नहीं हो सकता। अब यहाँपर यह बतलानेके लिये, कि इन दोनोंसे जैनियोंकी नीति वस्तुस्वरूपका साधन किस तरह करती है, आचार्य्य महाराजने एक विलक्षण उदाहरण दिया है, कि जिस तरह ग्वालिनी मक्खन बनानेरूप कार्यकी सिद्धिकेलिये दहीमें मथानी चलाती है और उसकी रस्सीको जिस समय एक हाथसे अपनी ओर खींचती है, उस समय दूसरे हाथको शिथिल कर देती है और फिर जब दूसरेसे अपनी ओर खींचती है, तब पहिलेको शिथिल करती है; एकके खींचनेपर दूसरेको सर्वथा छोड़ नहीं देती। इसी प्रकार जैनीनीति जब द्रव्यार्थिकनयसे वस्तुका ग्रहण करती है, तब पर्य्यायार्थिकनयकी अपेक्षा वस्तुमें उदासीन भाव धारण करती है, और जब पर्य्यायार्थिकनयसे ग्रहण करती है, तब द्रव्यार्थिककी अपेक्षा उदासीनता धारण करती है, जिस किसीकों सर्वथा छोड़ नहीं देती और अन्तमें वस्तुके यथावत् स्वरूप कार्यकी सिद्धि करती है। जैनी जिस समय द्रव्यार्थिकको मुख्य मानके जीवका स्वरूप नित्य कहते हैं, उस समय पर्यायकी अपेक्षा उदासीन रूपसे अनित्य भी कहते हैं।

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि ।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥ २२६ ॥

अन्वयार्थौ—[चित्रैः] नाना प्रकारके [वर्णैः] अक्षरोंसे [कृतानि] किये हुए [पदानि] पद, [पदैः] पदोंसे [कृतानि] बनाने गये [वाक्यानि] वाक्य हैं, [तु] और [वाक्यैः] उन वाक्योंसे [पुनः] पश्चात् [इदं] यह [पवित्रं] पवित्र पूज्य [शास्त्रम्] शास्त्र [कृतं] बनाया गया है, [अस्माभिः] हमने [न 'किमपि कृतं'] कुछ भी नहीं किया।

भावार्थ—ग्रन्थकर्त्ता आचार्य अपनी लघुता प्रकट करनेके लिये कहते है, कि अकारादि सम्पूर्ण अक्षर पौद्गलिक हैं, अनादि निधन है, इन्हींका जब विभक्त्यन्त समुदाय होता है, तब पद कहलाता है, तथा अर्थके सम्बन्धपर्यन्त क्रियापूर्ण पदोंका समूह वाक्य कहलाता है, और उन्हीं वाक्योंका वह एक समुदायरूप ग्रन्थ हो गया है। इसलिये इसमें मेरी कृति कुछ भी नहीं है, सब स्वाभाविक रचना है। शुभमस्तु।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिणां कृतिः पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयं
नाम जिनप्रवचनरहस्यकोषः समाप्तः ॥

१-इसी भावका श्लोक—

वर्णाःपदानां कर्तारो वाक्यानां तु पदावलिः ।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तृणि न पुनर्वयम् ॥ २३ ॥
—श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत **तत्त्वार्थसार**।

श्लो० पृष्ठांक



